ISSN : 2278-4632

# JUNI KHYAT
# जूनी ख्यात

इतिहास, कला एवं संस्कृति की शोध पत्रिका

A Peer-Reviewed and Listed in UGC Care List

संपादक
डॉ. बी. एल. भादानी

# मरुभूमि शोध संस्थान, श्रीडूँगरगढ़

## परामर्श मण्डल

प्रो. प्रवीण चन्द्र त्रिवेदी
कुलपति
ज.ना.व्यास
वि.वि.
जोधपुर

प्रो. बसंत शिन्दे
कुलपति
डेक्कन कॉलेज
( डीम्ड वि.वि. )
पुणे

प्रो. रवीन्द्र कुमार, पद्मश्री
पूर्व कुलपति
चौ. चरण सिंह वि. वि.
मेरठ

डॉ. रीमा हूजा
निदेशक
सिटी पैलेस
जयपुर

डॉ. सूरजसिंह नेगी
आर. ए. एस.
उपखण्ड अधिकारी
टोडारायसिंह

डॉ. अमरसिंह राठौड़
पूर्व निदेशक
जन सम्पर्क
जयपुर

डॉ. डी. बी. क्षीरसागर
पूर्व सचिव
राज. संगीत नाटक
अकादमी, जोधपुर

डॉ. जीवनसिंह खरकवाल
निदेशक
इंस्टीट्यूट ऑफ राजस्थान
स्टडीज, उदयपुर

डॉ. एम. ए. लारी आजाद
अध्यक्ष
स्नातकोत्तर व इतिहास विभाग
एनआरइसी कॉलेज, खुरजा

श्री रतन शाह
अध्यक्ष
राज. प्रचारिणी सभा
कोलकाता

# JUNI KHYAT

# जूनी ख्यात

(सामाजिक विज्ञान, कला एवं संस्कृति की शोध पत्रिका)

वर्ष : 9 ● अंक 2

जनवरी-जून 2020

**A Peer-Reviewed and Listed in UGC Care List**

**ISSN 2278-4632**

*संपादक*

**डॉ. बी. एल. भादानी**

प्रोफेसर

प्रबंध संपादक

**श्याम महर्षि**

*सह संपादक*

**डॉ. राजेन्द्र कुमार**

**मरुभूमि शोध संस्थान**

**संस्कृति भवन**

**एन.एच. 11, श्रीडूँगरगढ़ (बीकानेर) राजस्थान**

---

The Publication of the JOURNAL was financially supported by the Indian Council of Historical Research and the responsibility for the facts stated, opinions expressed and conclusion reached is entirely that of the authors of the articles and the Indian Council of Historical Research accepts no responsibility for them.

प्रकाशकीय एवं विज्ञापन कार्यालय :
सचिव, मरुभूमि शोध संस्थान, श्रीडूँगरगढ़-331803 (बीकानेर) राज.

आजीवन सदस्यता 3000 रु.

सहयोग दर :

(व्यक्तिगत) एक अंक 100 रुपये ❑ प्रति वर्ष 200 रुपये

(संस्था) एक अंक 150 रुपये ❑ प्रति वर्ष 300 रुपये

बाहरी चैक के लिए 25 रुपये अतिरिक्त

**आजीवन शुल्क संस्था के निम्न खाते में सीधा ट्रांसफर करके हमें बताने की कृपा करें।**

1. **Punjab National Bank**
2. **Sri Dungargarh**
3. **मरुभूमि शोध संस्थान**
4. **खाता सं. 3604000100174114**
5. **IFSC Code - PUNB0360400**

ड्राफ्ट/नकद भुगतान भेजने का पता :

**श्याम महर्षि**

सचिव :

**मरुभूमि शोध संस्थान**

(राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचार समिति)

श्रीडूँगरगढ़ 331803 (बीकानेर) राज.

फोन-01565-222670

आलेख सीडी में या निम्न ईमेल पर किया जा सकता है।

सम्पादकीय कार्यालय :

**डॉ. बी.एल. भादानी**

रांगड़ी चौक, बीकानेर 334001 (राज.) मो. 9950678920

junikhyat.mss@gmail.com

bbhadani.amu@gmail.com • kumaarrajender11@gmail.com

# सावधान

**जूनी ख्यात** (अर्द्धवार्षिक) दिसम्बर 1994 ई. से नियमित Print Form में प्रकाशित हो रही है। जून 2019 में 'UGC Care List' (S.N. 194) में सामाजिक-विज्ञान की श्रेणी में सम्मिलित करली गई है। यह पत्रिका Online प्रकाशित नहीं होती है।

**जूनी ख्यात** नाम से ही एक फर्जी पत्रिका (Cloned Journal) ऑन लाइन निकाली जा रही है जो हमारे ही ISSN एवं यू.जी.सी. केयर लिस्ट की संख्या को उपयोग में ले रही है। इस सम्बन्ध में **यू.जी.सी.** ने 23-7-2020 को 'Cloned Journal' की एक सूची जारी की है उसमें अन्य पत्रिकाओं के साथ **जूनी ख्यात** का भी नाम है। यह पत्रिका निम्न वेबसाइट पर प्रत्येक विषय के शोध पत्र आमंत्रित करती है।

| **Juni khyat Journal** | | |
|---|---|---|
| Language | : | English & Hindi |
| Publisher | | NA |
| ISSNo. | | 2278-4632 |
| URL http | : | www.junikhyat.com |

हमारी पत्रिका **मरुभूमि शोध संस्थान, श्रीडूँगरगढ़** द्वारा प्रकाशित की जाती है। अब 'नकली पत्रिका' बी.एल. भादानी, संपादक के नाम का भी उपयोग कर रही है जो एक आपराधिक कृत्य है।

इसमें तथाकथित रूप से प्रकाशित आलेख का कोई महत्त्व भी नहीं है। इसलिए शोधार्थियों से सावधान रहने की अपील की जाती है।

**बी.एल. भादानी**
संपादक

| Sl.No. | Journal No. | Title | Publisher | ISSN |
|---|---|---|---|---|
| 194 | | JUNI KHYAT | | 2278-4632 |

## UGC Journal Details

Name of the Journal **: JUNI KHYAT (Print Form)**
ISSN Number : 2278-4632
e-ISSN Number : NA
Source : **UGC**
Discipline : **Social Science**
Subject : **Social Sciences (all)**
Focus Subject : Cultural Studies
Publisher : Marubhumi Shodh Sansthan, Sri Dungargarh (Bikaner)

## गौड़ ब्राह्मण जाति द्वारा प्रतिष्ठापित सती स्मारक : गाँव ''नाल छोटी'' (बीकानेर)

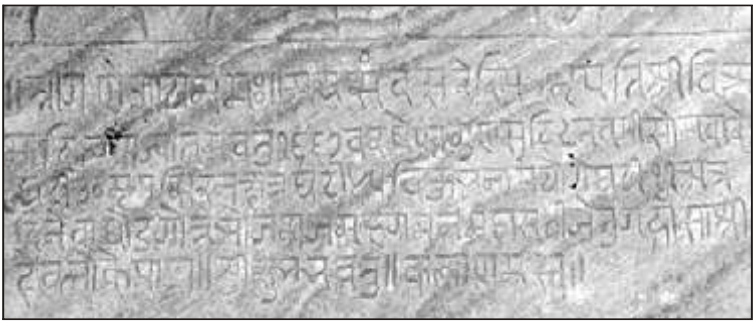

॥ श्री गणेशाय नमः ॥ अथ सम्वत्सरेस्मिन नृपति श्री विक्र
मादित्य राज्यत् सम्वत् १६६७ वरषे फागुण सुदि ९ नवमी सोमवारे
घटी ३० मृगसिर नक्षत्र घटी ४५ विरह्मनामयोगे घटी ११ अत्र
दिने ब्रा. घोड़ (गौड़) गोत्रे भोजराज सहगमन महासती जेतुंग हो सा श्री
देवलोके प्राणः ॥ श्री शुभं भवंतु ॥ कल्याणमस्तु ॥

### भावार्थ

यह शिलालेख एक सती स्मारक पर प्रतिष्ठापित है, जो विक्रमी संवत 1667/1610 ई. की फाल्गुन सुदी 9, सोमवार का है। इस लेख में ब्राह्मणवंशीय गौड़ गोत्रीय भोजराज की मृत्यु उपरान्त उसकी धर्मपत्नी जेतुंग का उसके साथ सती होने का वर्णन है। यह शिलालेख बीकानेर के महाराजा रायसिंह के शासनकाल में उत्कीर्ण किया गया था। बीकानेर राज्य के समाज में राजपूत वर्ग से इत्तर ब्राह्मण वर्ग में भी सती होने के प्रारम्भिक प्रमाणों में से यह एक है। इस शिलालेख में तलवारधारी युवक भोजराज को घोड़े पर एवं उसकी धर्मपत्नी को उसके समक्ष धरातल पर करबद्ध खड़े होने की मुद्रा में दर्शाया गया है। यह लेख स्थानीय बलुआ पत्थर पर उत्कीर्ण है।

अनुवादक : **डॉ. राजेन्द्र कुमार**

# संपादकीय

**जूनी ख्यात** (जनवरी-जून 2020) के इस अंक में कुल तेरह शोध आलेख, पालीवालों के गाँव झझू (बीकानेर) की पुरातात्त्विक सर्वेक्षण की रपट एवं ग्रन्थ की समीक्षा संकलित हैं। रामायण केन्द्रित मेवाड़ की लघु चित्रशैली पर डॉ. एस. के. अग्रवाल का शोध आलेख अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। लेखक ने सोलहवीं सदी मेवाड़ में चित्रित धार्मिक ग्रन्थों की परम्परा को रेखांकित किया है। महाराणा जगतसिंह ने चित्रित मुग़ल ग्रन्थों को ध्यान में रखकर राम के जीवन से जुड़े अनेक पक्षों को चित्रित करवाया। लेखक के अनुसार रामायण के चित्र राम के न्यायपूर्ण शासन को दर्शाते हुए विदेशी मुग़ल शासकों को राजपूत प्रत्युत्तर था। के. प्रशांत शेखर का शोध आलेख प्राचीन भारतीय इतिहास के ऐसे पक्ष पर केन्द्रित है जिस परम्परा पर बहुत ही कम लिखा गया है। इतिहास के स्रोत के रूप में लोक साहित्य एवं मौखिक परम्पराओं के उपयोग के प्रश्न पर डॉ. दलजीत सिंह का विवेचनात्मक अध्ययन अत्यंत उपयोगी आलेख है। लेखक ने इसकी सीमाओं एवं कालक्रम के प्रश्न पर भी विचार किया है। उन्होंने भूत के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए इन स्रोतों को महत्त्वपूर्ण एवं आधिकारिक माना है। प्रागैतिहासिक काल के शैलचित्रों पर आधारित संगीत एवं नृत्य विषय पर विरेन्द्र शर्मा का शोधपत्र एक अच्छा प्रयास है।

डॉ. राजेन्द्र कुमार का शोध आलेख राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में संग्रहीत अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध की 'ऊन रे लूंकारा री बही' पर आधारित विवेचनात्मक शोधपत्र है जिसमें उन्होंने बीकानेर में ऊन उत्पादन के क्षेत्र में संलग्न जातियों, केन्द्रों एवं कराधान के बारे में जानकारी संकलित की है। ऊन व्यापार में लगे व्यापारियों की विभिन्न श्रेणियों एवं दलालों को रेखांकित करने का प्रयास किया है। डॉ. जिब्राईल का शोध पत्र पूर्वी राजस्थान के क़स्बा चाकसू के जलसंसाधनों के भौतिक सर्वेक्षण पर आधारित है। लेखक ने सतरहवीं से उन्नीसवीं सदी के दस्तावेजों के प्रकाश में सर्वेक्षण किया एवं जल संसाधनों के वर्तमान में उपयोग की स्थिति को भी उजागर किया है। राजस्थान में चारणों के पारस्परिक विवादों की प्रकृति एवं उन्हें सुलझाने

की पद्धति या तरीके को तृप्ति देव ने अपने शोधपत्र के केन्द्र में रखा है। आंग्ल भाषा का अंतिम आलेख डॉ. बलजीत सिंह विर्क का सेन्ट्रल लेजिस्लेटिव एसेम्बली के 1945 के चुनाव के सन्दर्भ में अकाली राजनीति पर केन्द्रित है।

हिन्दी भाषा में छह शोध आलेख, एक पुरातात्त्विक सर्वेक्षण की रपट एवं दो समालोचनाएं हैं। डॉ. कुलराज व्यास ने इण्डो-सीथियन सिद्धान्त के आधार पर जाटों की उत्पत्ति का आलोचनात्मक परीक्षण किया है। भक्त कवि बारहठ ईसरदास के जीवन एवं उनके कार्यों का आकलन डॉ. शेफालिका पालावत ने अपने शोध-पत्र में किया है। वे राजस्थान के अतिरिक्त पड़ौस के राज्यों में भी भक्त कवि के रूप में प्रसिद्ध थे। डॉ. मीना कुमारी ने बीकानेर में कृषि व्यवस्था एवं राज्य द्वारा कृषि विस्तार हेतु किए गए प्रयासों को रेखांकित करने का प्रयास किया है। उनका आलेख अभिलेखागार में संग्रहीत बहियों पर आधारित है। डॉ. राकेश किराड़ू का आलेख बीकानेर की लोक चित्रशैली पर आधारित है जो 'मथेरण कला' के नाम से प्रसिद्ध रही है। इन कलाकारों द्वारा चित्रित चित्र बीकानेर की सांस्कृतिक परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन में महात्मा गांधी द्वारा चरखे को स्वावलम्बन के प्रतीक के रूप में स्थापित किया गया। उनके अनुयायियों ने उनका अनुसरण किया। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की उल्लेखनीय भूमिका को चरखा एवं खादी के सन्दर्भ में प्रीति गिरि ने अपने आलेख का विषय बनाया है। मारवाड़ के ठिकाना चाणोद के इतिहास पर जसवंत सिंह का शोध पत्र ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। झझू गाँव के पुरातात्त्विक सर्वेक्षण की रपट डॉ. रितेश व्यास द्वारा प्रस्तुत की गई है।

विद्वानों एवं शोधार्थियों से अनुरोध है कि वे अपने शोध आलेख में दी जाने वाली पाद टिप्पणियों में पत्रिका के पैटर्न का अनुसरण करें। पत्रिका में प्रकाशित होने वाले आलेखों की विद्वानों द्वारा जांच-पड़ताल की जाती है जिसमें समय लगता है। शोध पत्रों के बारे में विशेषज्ञों का जो भी निर्णय होगा लेखकों को समय पर अवगत करा दिया जाएगा।

सम्पादक

**डॉ. बी. एल. भादानी**

# अनुक्रम


Mewar Ramayana Miniatures 9-17
*Dr. S. K. Agrawal*

Situating the *Parivṛktî* in Sexuality Matrix in Early India 18-31
*K. Prasant Shekhar*

Folklore and Oral Traditions as Source of History 32-45
*Dr. Daljit Singh*

Music and Dance in Rock Art 46-53
*Virendra Sharma*

Role of Archival Sources in The Reconstruction of the Economic History of Bikaner State : With Special Reference to *'OON Re LUNKARA Ri BAHI'* 54-60
*Dr. Rajender Kumar*

A Study of Water Structures and Their Use in *Qasba* Chaksu 61-75
*Dr. Jibraeil*

Variegated Conflicts in the Endogenous World of Charans 76-86
*Tripti Deo*

The Akali Dal Politics: Central Legislative Assembly Election (1945) 87-103
*Dr. Baljit Singh Virk*

जाटों की उत्पत्ति का इण्डो-सीथियन सिद्धांत :
एक आलोचनात्मक अध्ययन 104-111
*डॉ. कुलराज व्यास*

भक्त कवि बारहठ ईसरदास को राज्य द्वारा प्राप्त सम्मान एवं
राजकीय कार्यों में उनका योगदान 112-122
*डॉ. शेफालिका पालावत*

बीकानेर राज्य में कृषि व्यवस्था एवं उसके संवर्धन के प्रयास
(1707-1818 ई.) 123-128
*डॉ. मीना कुमारी*

मथेरण चित्रकला : बीकानेर की सामाजिक, धार्मिक व
सांस्कृतिक परम्पराओं के सचित्र दस्तावेज 129-134
*डॉ. राकेश किराड़ू*

चरखा और खादी के अनुप्रयोग में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की भूमिका 135-141
*प्रीति गिरि एवं प्रो. आभा रुपेंद्र पाल*

अभिलेखीय स्रोतों के आधार पर ठिकाना चाणोद का
ऐतिहासिक अवलोकन 142-149
*जसवन्त सिंह*

कस्बा झझू (कोलायत) की ऐतिहासिक सर्वे रपट–1 150-155
*डॉ. रीतेश व्यास*

*पुस्तक समीक्षा*

इतिहास एवं संस्कृति स्पर्श बोध: मो. फारूक चौहान 156-158
*समीक्षक – डॉ. नितिन गोयल*

बलदेवदास रंगा : A Discovery–एक खोज एक अद्भुत अनुभव 159-160
*समीक्षक – बी.एल. भादानी*

# Mewar Ramayana Miniatures

• Dr. S. K. Agrawal

## The Ramayana: Nation's Textual and Folk Traditions

Ramayana, acclaimed as Adi Kavya, sprang out of Karuna Rasa i.e. the sentiments of pathos, is not exactly a text but a tradition- a tradition that is varied and diverse, has so many layers, and is related to different cultures and classes-of the tribal folk as well as the mainstream people. So, we have folk Ramayanas, performed Ramayanas, Ramayanas which have been painted and carved and of course written Ramayanas. Certainly, there are thousands of Ramayanas (not only 300 Ramayanas as stated by the Folklorist A. K. Ramanujan). There is a whole tradition of textual Ramayana also. In Malayalam, there are 23 versions of Ramayana. There are several folk versions of Ramayana like the one that the Bhils have, for example where there is not even a war because the tribal do not believe in violence and war; Ravana realises that he has committed a folly, and returns Sita to Ram and thus arrives at a compromise. In Telugu Ramayana, the whole point of view is that of a woman. In it, Sita is the main character and her delivery, her pain in the forest, her whole life and attitude to Ram and other people become significant.

Ramayana is a living tradition too, for even today newer and newer versions of Ramayana are emerging or people are retelling the Ramayana in various kinds of forms. And this exactly is the very basis of our democracy. Unfortunately, many of them have been silenced in the mainstream discourse and that silencing is certainly an impediment in comprehending our cultural diversity in entirety. Moreover, the various ways in which the texts have been written, performed, stories told and retold, are markers of our cultural pedigree.

Textual Ramayanas are told from a people's point of view but to understand the psyche of the people and to know their world view, it would be interesting to go to folk Ramayanas—of the Bhils, of the Gonds, of the Agriyas. Thus, there are written Ramayanas, oral Ramayanas, performed Ramayans, painted and sculpted Ramayanas, and when we speak about Ramayana, we need to take into account all that and not confine ourselves to any particular version. Since Ramayana is not a monolithic text, we can look through the epic the entire range of our culture, the evolution of the civilization and the various kinds of views of our people. Ramayana does not belong to any one moment in history for it has its own history which lies embedded in the many versions which were woven around the theme at different times and places, even within its own history in the Indian sub-continent. Unlike European epics such as the compositions of Homer, Indian epics were never frozen when they changed from an oral to a literate from. Professional Kathakars and reciters recited the written versions with their own commentary and frequently adjusted the story to contemporary norms. The story in these versions included significant variations that changed the conceptualisation of character, event and meaning. There are several versions of Ramayana among the tribes of Bhils, Mundas, Santhals, Gonds, Korkus, Bodo, Khasis, Mizos and so on. While retaining the structural and thematic unity of the text, the communities weave their plots and sub-plots into the texts. The greatest of Ramayana narrators Valmiki was a Kirat tribal. Besides, within the literate traditions there are substantial differences. Parallel to this is the Buddhist rendering in some of the Jatakas, where as in the Dasratha Jataka, Sita is the sister of Ram. This change in the kinship pattern is reflected in the Buddhist literature. In the Jain text the *Paumacharyam*, the treatment of Ravana is more sympathetic. Lanka is as important as Ayodhaya is, and the events are coloured by the Jain ethics. The religious importance of the story increased with the most popular sacred literature of 16$^{th}$ century Ramcharitmanas written by Tulsidas.

There is arguably no other text in history that has had as pervasive and as powerful an influence over the cultures of more distinctly different and diverse people than the Ramayana. Amidst all the speculations, guesswork, hyperbole and disputations surrounding it, one fact simple and plain, stands out that the Ramayana can still be, it seems, all things to all men and women.

This is the secret of its abiding appeal. Ramayana is the part of our everyday life. It exists everywhere- in the rituals, ceremonies, jokes and survival mechanisms. It is not that people have memorized Ramayana and handed down from one generation to the other like the Vedas and the Upanishads. Rather, the people have adopted the Ramayana to suit their different landscapes of life. Ramayana literary traditions are admired all over the world, for they teach us how to live in the world, what it means to be human, how to be good, etc. There is no book nowhere which has exercised such a continuous and pervasive influence on the mass mind, and these two-Ramayana and Mahabharata-are still a living force in the life of Indians. Ramayana is therefore not a mere mass of transmuted legends and folklore, but a highly artistic representation of intimate significances of life, the living presentation of a strong and noble thinking, a developed ethical and aesthetic mind and a high social and political ideal, the ensouled image of a great culture.

The Vedas and the Puranas along with two great epics-the Ramayana and the Mahabharata-constitute the solid and enduring foundation of agelong and magnificent Indian culture and civilization. Unfortunately, the great Indian epic Ramayana which has been a national possession for thousands of years and therefore must have been treated as Nation History, were set aside as "gospel and mythology" for we decided to be guided by the conspiring western scholarship. The great Western Scholar Horace Wilson also wrote:

… by annihilating native literature, by sweeping away all sources of pride and pleasure in their own mental efforts, by rendering a whole people dependent upon a remote and unknown country for all their ideas and for the words in which to clothe them, we should degrade their character, depress their energies and render them incapable of aspiring to any intellectual distinction.

(Education for the Natives of India in *Asiatic Journal*, 1836)

It is a pity that we did not take a lesson even from the struggle for Independence where our leaders focussed on our epic traditions, such as Ram Rajya by Gandhi ji, to free the country from the colonial rule. We could not even follow the lead of the leaders like Swami Vivekananda who projected the epic traditions of spiritualism of this country to the outside world. Such things

happened outside the educational spectrum and the educational system has remained colonial in character.

Ramayana is a Nation's history; like history it is also a dialectical text and hence relevant even today. The story is narrated in this country not for facts but for truth. Ramayana is not a gospel either, for it is crowded with thousands of characters. Rama existed or not is a question of poor memory-when the entire nation talks about Rama, it cannot be fictitious. Our utmost trust in the print culture has created problems in the proper comprehension of Ramayanic traditions. There have existed oral traditions in India since times immemorial, and stories were told here to bring out certain truths not facts. Unlike the western epic, Ramayana is not a story of a hero/villain; it is a narration of Sanatan Gyan dealing with the concept of Infinity, a unique Indian concept.

Ramayan is a people centric epic, for Ram puts the denizens of his country above his love; that is why Sita is asked to prove her purity. He cares for the people; it is for this reason that the pregnant wife is sent to the jungle. He bows down to the common man. The scholarship suffers from 'Dhritrastra Syndrome'- for Agni Pariksha cannot be taken literally. It is a type of test. Ram cares more for the well-being of his people, not his own self. Ram's devotion to Sita is impeccable. He does not try to find out local solutions (which he could do as a prince) when Sita is abducted by Ravana, but forms an army, walks almost 3000 kilometres and goes to Sri Lanka, fights with Ravana and gets his wife back. Moreover, too much identification with gender means that one identifies much with one's body parts.

Rama is adored not because he is a super-success but because he never becomes resentful, hateful, angry or reckless. Rama's life is a message for us against labelling an individual as it leads to a judgemental life. Ram repents for the killing of Ravana and goes for penance in Agastya Muni's Cave. He recognizes that Ravana was Lord Shiva's devotee, a phenomenal scholar, a symbol of wisdom, piety, knowledge, devotion, etc. This is a message for common man that rather than condemning the individual, we should condemn the quality-that is vicious or bad. Hanuman's interpolations are also significant, for he is the only divine who undergoes dramatic transformations in the literary textual traditions of Ramayana.

Ramayana is not a frozen literary creation; adaptability is its main feature. It is perhaps for this reason that there are thousands of versions of Ramayana today and increasing every day. It is a lively form of history describing what happened in every walk of life, including science and technology. It is not simply a mega - narrative but a bunch of meta-narratives covering almost all the aspects of life. If one reads the epic thoroughly and reflects on the dialogic, one can see the Ramayana unfolding in front of oneself.

Besides Texts, there are varied versions of Ram Katha and Ramayana in folk traditions. Transmission, mobility, adaptation and concrete expression of Ram Katha theme among different communities in India and outside is the finest example of the power of the oral world that transcends all boundaries-geographical, temporal, social or literary. It provides for plurality, diversity and continuity of the traditions transcending the rigid boundaries of the text. Sacred geography, narrative, performance and pictorial traditions are the parts of Ram Katha.

As a matter of fact, Ramayana traditions are a diverse set of telling that present the story of Ram in different languages, styles and mediums. The rendering of the epic in different languages has enriched the Ramayana traditions. In addition, there are several contemporary versions such as R. K. Narayan's Ramayana in prose form, P. Lal's Ramayana, Ramesh Menon's Ramayana, Deepak Chopra's Ramayana, Martin Buckley's Ramayana. Ramayana is also depicted in famous performing arts like Bharatanatyam, Manipuri, Kathak, Kathakkali, etc. But little is known about the hundreds of types of Ramayana dances, plays, puppetry shows, mask dances and Ramayana Miniatures. Mewar Ramayana certainly makes a unique Ramayanic tradition comprising both the textual and the folk traditions in the form of Miniatures.

## Mewar Ramayana Miniatures

Mewar was a major centre for the production of *Pothi* manuscripts with illustrations in the 16$^{th}$ century. The religious texts such as Bhagvata Purana, Jayadeva's Gitagovinda were the manuscripts with illustrations produced during this time. This art flourished marvellously during the times of Jagat Singh. Jagat Singh somehow knew the illustrated manuscripts glorifying the ancestors of Mughals: Genghis Khan, Babur and Akbar. The idea of producing

a Ramayana in Miniatures on a similarly epic style as a kind of family might have germinated in Jagat Singh's mind after having seen the Mughal manuscripts as a Rajput Rejoinder to their alien overlords by invoking Rama's righteous rule.

The British Library has brought the Ramayana to London, mounting a remarkable exhibition that showcases 120 breath-taking miniatures from what is probably the most beautiful version of the story ever painted: the 17th century Ramayana commissioned by Rana Jagat Singh of Mewar. This found a home in London due to the efforts of the famous Scottish Scholar Colonel James Tod (1782-1835) who wrote *Annals and Antiquities of Rajasthan* whose almost complete absorption into Rajasthani culture has led one rival to say that "he was too much of a Rajpoot himself to deal with Rajputs". Although, these Ramayana paintings have been in the British Museum since 1844, not much attention was paid to these paintings as they could hardly be comprehended in the West. It was only after the endeavours made by Dr. A. K. Coomaraswamy that the scholars started working on its style, narrative structure, etc but still much remains to be done.

The Mewar Ramayana is arguably the masterpiece of Rajasthani painting, and is certainly one of the supreme monuments of 17th century Indian art. It comprises seven Volume work that was produced by at least three different scriptoria; it is said that once it included as many as 400 paintings. This great manuscript forms the core of exhibition and demonstrates the way the Ramayana has spread not only across India, but through the whole of South-East Asia. It has adapted itself to almost every known form of traditional media, from miniature and scroll painting to dance, drama, opera, shadow puppetry, film and television. India's folk may not be literate but it is culturally erudite. It is because of this that some castes of wandering story tellers still know the 24000 verses in its entirety.

It is no accident that the Mewar Ramayana was composed in response to a catastrophe. In the late 16th century, as the Mughal Emperors extended their control over Rajasthan, only the Ranas of Mewar managed to resist submitting to the authority of the Muslim rulers of Delhi. Mewar Ramayana links the Mewar dynasty with Rama (from whom it claimed descent), while connecting the demon Ravana with Mughals. So it is that we see Ravana taking a

ceremonial bath in the Mughal imperial tent, and appearing at his palace window to give darshan of himself as Mughal Emperors Jahangir and Shah Jahan did from the balcony of their apartments in the Red Fort; below the massed demons give a salute to their king just as Mughal courtiers do in Mughal manuscripts.

The lively miniatures drawn by Master Miniaturist Sahib Din are some of the energetic images ever produced by the Indian artists. Often the more urban or palace images are compartmentalised into two or three separate areas by architectural frames and blocks of primary colour. Especially impressive are the fabulous scenes of the advance of monkey army on Lanka: against a vivid red ground, the monkeys move forward in great waves like a succession of breakers. A blue-skinned Rama, with garlands of jasmine around his shoulders sits, bow at the ready, on the back of Hanuman; Lakshman follows, sitting astride a saddle of mango leaves, a quiver of arrows at the ready, and sword and dagger flashing from the waistband. The miniatures depict pathos, beauty as well as energy and movement. Sita is invariably shown large-eyed and melancholic, as she sits mournful and pensive in her red Rajasthani Ghaghara (skirt), choli (bodice) amid Ravana's pleasure gardens awaiting her lost husband Rama.

The image which has been much appreciated is the wonderfully comic image of the demon army trying to wake Ravana's brother giant Kumbhakarana as the portly moustachioed figure of the colossus lies horizontally across the length of the miniature in his red underparts, mouth open to emit loud snores, Lilliputian demons swarm around him with clubs and hammers. A singing woman is brought near to try to rouse him, then is brought a braying ass; the elephants are shown manoeuvring to trumpet into one ear, while a dog-headed demon barks into the other. To one side lie the great pitchers of wine and heaps of meat- dead humans and monkeys -aiming at the giant's breakfast when he awakes. The image is set against a yellow ochre ground that highlights the brown bulk of the giant.

Around the central exhibit is an array of supporting material that shows the spread of the epic from oral narrative to printed text, as well as from local dynastic history to pan-Asian epic; stone images of Hanuman, papier mache masks of Sita from the Bengali Durga Puja, dance costumes and kathakkali headdresses from

Kerala, Thanjavur ivories, company prints, Malay shadow puppets, Kalighat woodcuts, Nayaka bronzes, Andhra textiles, Javanese paintings and Burmese embroidery.

Rama is depicted as Vishnu Incarnate- the perfect man. There is an indication in the exhibit that by the end of the first millennium BC, there came into being a cult that worshipped Lord Rama as God. There are surprisingly few images of Lord Rama compared to the voluminous iconography in painting, sculpture and metal work associated with another Vishnu Incarnate, Lord Krishna. Even before the Mewar Ramayana was printed, the mother of Mughal Emperor Akbar, Hamida Banu Begum is known to have commissioned her own illustrated copy of the epic and asked for it to be brought to her on her death bed. Sahib Din, the central figure at the projection of the Mewar Ramayana was also a Muslim. He was able to render the story in a way that realised Jagat Singh's vision of rivalling the Mughal version in complexity, but it took him as many as 20 years to reach the necessary level of artistic sophistication to be able to achieve it. On ascending the throne of Delhi, the Mughal Emperor Bahadur Shah Zafar II issued the office orders to change the route of annual Dussehra festivities so that the Mughal court could also enjoy the spectacles from the parapets of the Red Fort. Likewise, the finest textiles illustrating the Ramayana in the show were commissioned not by Hindu rulers, but by the Muslim Sultanates of Indonesia.

These Ramayana Miniatures bring forth the fact that they cannot be dismissed either as gospels or myths, for they have enlightened and integrated the Nation when our national ethos was in jeopardy due to foreign rule. Mewar Ramayana Miniatures glorify the Ramayanic traditions as this great masterpiece of art brings communities together, rather than violently separating them. The British Library's Ramayana Miniatures, masterpieces of Hindu, many painted by Muslims-are testimony to a time when religious relations on the sub-continent were less fraught.

## References :

1. For History of Mewar

Giles Tillotson, *The Rajput Palaces: The Development of an Architectural Style* 1450-1750, New Haven: Yale University Press,1987.

James Tod, *Annals and Antiquities of Rajasthan,* W. Crooke, ed., OUP,1920.

Joanna Williams, *Kingdom of the Sun: Indian Court and Village Art from the Princely state of Mewar*, San Francisco: Asian Art Museum of San Francisco, 2007.

## 2. For Ramayana in General

*The Ramayana of Valmiki*, trans. Hari Prasad Shastri, London: Shanti Sadan,1952-59.

*The Ramayana of Valmiki: An Epic of Ancient India*, trans. With an Intro. By Robert P. Goldman et al., Princeton: Princeton University Press,1984.

*Rama the Steadfast: An Early Form of the Ramayana*, trans. John Brockington and Mary Brockington, London: Penguin Books, 2006.

## 3. For the Mewar Ramayana Manuscripts

Chandra Modi, 'Paintings from an Illustrated Version of the Ramayana painted at Udaipur in 1649', *Bulletin of the Prince of Wales Museum Bombay, Vol.5*, 1955-57, pp 33-49.

Dehejia Vidya, 'The Treatment of Narrative in Jagat Singh's Ramayana: A Preliminary Study', *Artibus Asiae*, Vol.56, 1996, pp 303-24.

Losty J.P. 'Sahib Din's Book of Battles: Rana Jagat Singh's Yuddhakanda', in Vidya Dehejia, ed, *The Legend of Rama: Artistic Visions,* Bombay: Marg Publications, 1994, pp.101-16.

**Dr. S. K. Agrawal**
Professor
Department of English
Maharaja Ganga Singh University, Bikaner

❑❑❑

# Situating the *Parivṛktī* in Sexuality Matrix in Early India

• K Prasant Shekhar

According to Macdonell et al[1], *Parivṛktī* is 'the name of the "Rejected one" among the royal wives' as she "has had no son"[2]. Nonetheless, a ritual without a wife, as stereotype image tend to suggest, is no ritual at all. In royal rituals, more specifically, the *Aśvamedha*[3] and the *Rājasūya*[4], despite of being "Rejected one", she plays important structural role.

### *Structural role of the Parivṛktī in the Aśvamedha and Rājasūya sacrifices*

The *Parivṛktī* while joining the chief queen *(mahiṣī)* plays decisive role in the ceremonies of anointing and adorning the horse which immediately precedes the sacrifice of the horse. Structurally, inserting of needles into the dead body and guiding the knives in appropriating the victim to be followed after sacrificing of the horse and ceasing of copulation. Pertaining to anointment and adornment of the horse, *Āpastamba śrauta Sutra*[5] says:

*'पत्न्यो श्वमल्म कुर्वन्ति/महिषी वावाता परिवृक्रीती ...सुवरिती सामुद्रान्परीवृक्रीती प्रत्यक श्रोने .... मौस्तकृतेना'* (XX.15.7-12)

'The wives adorn the horse-the chief queen, the favourite, and the rejected wife...the Rejected wife marine ones (pearls) behind the hips, with *Suvar*...the Rejected wife with (butter) mixed with *mustakṛt*'

*'लौहिमिः सीसाभिर व परिवृक्ति शेषं'* (XX.18.7)

'...With copper or lead (needles) the Rejected wife the rest (parts/other than breasts and in front of navel)'

The *Parivṛktī,* in *Vājasaneyi*[6], depicted as having indulged in coarser verbal exchange with the priest at the copulation:

*'यदस्या अठदु मेघा कृधु स्थूलमुतापातसतो*
*मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुक्ताविवा'* (XXIII.28)

When the stunted, thick (penis) has shuttled from her narrow slit,

Her two balls stir like the two splinters in a cow's hoof.

*'यद्देवासो लतामागु प्रविष्ठो मिनभाविषु।*
*सक्थ्ना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिमुवो यथा।।'* (XXIII.29)

When the gods have favoured the (man) with a star-marked, stiffened (penis),

The woman displays with her thigh, like eyewitnesses to the truth.

*Śatapath Brāhmaṇa (V.3.1.13)*[7] defines *Parivṛktī* in terms of "one who has no son" *(या वा अपुत्रा पत्नी सा परिवृक्ति).* An *Atharva* verse compares the Rejected wife with *Vaśā*[8]cow in following way:

*परिवृक्तयाथस्य सभास्यवासेवा* (VIII.113.2)

...so that you will be 'avoided', like a *Vaśā*-cow by bull.

The *Vaśā* is a category of cow that has been mated but, so far, unable to have calve. In an *Atharva* passage, it is apparent that the speaker wishes barrenness of her ritual, even for time being. In the *Aśvamedha*, the Rejected wife assigned to perform her role of in-chargeship at the hind-end of the dead animal. This part invariably attached to generative functions, for, it contains generative organs.

The *Rājasūya* is yet another royal ritual with important role of the Rejected wife. This ritual involves making of an offering in the houses of important figures, usually, referred as *Ratnins*[9]. Both, the *Mahiṣī* and the *Parivṛktī*, are its integral part. Number of the *Ratnins* differ from one school to another of the Vedic thoughts and so is corresponding symbolism: in general, the extra element, more than often, reflects the *principle of regeneration*: the male component entering the female ones that corresponds like an

embryo (*Dhātr* with regard to the *Devikās*). For instance, as provided by *Baudh*[10], the Ratnins are settled in a row from north to south or from west to east, indicative of stationing of sun throughout the year or sun's position during the night. Sun's position of night itself tends to suggest conception but not birth of *rājan*.

*Atharva* (*AV.III.4.2*)[11] is the earliest among those providing an important alternative interpretation: this is all about to interpret the *Ratnin* offerings as the establishment of a marriage like bond. *Taittirīya* (*TS.III.3.9.5*)[12] defines such relations as of bull and cow, while *Śatapath* (*ŚBr. XIII.2.9.6*) defines such relations in terms of male and female generative organs and thus provides sexual dimension of the *Ratnin* offerings.

The group of royal consorts and personage attached therein, inevitably, reflects the idea of marriage and consequent to which, entering the womb, to the extent of rebirth as present in the Ratnin offerings ceremony, equally visible in personage attached with chariot-the *Sūtas* and *Grāmanīs*, the "king-makers", surrounding the king as an embryonic cover. In the *Aśvamedha*, the sexual symbolism is in full reflection in a symbolic chariot foray (*TS.IV.6.6 ff*). Apparently, battle and sexual union are intimately connected.

From this perspective of putting charioteers and other representatives on a par with four royal consorts as womb or embryonic covers wherein, a king enters only to emerge a year later in the rites of unction festival with the help of Ratnins. In a list of eight (*PBr.XIX.1.4*)[13] people which include, among others, the queen, the *Sūta*, and the *Grāmanī*, help sustain kingship.

Furthermore, the embryonic stage usually defined as of imminent danger: embryonic covers are both, for protection of as well as it also harms embryo. The last *ratnin* represents this evil aspect which has to be disposed of at their home: in the house of *Parivṛktī, nirṛti* is put off and *Parivṛktī* is sent away.

Alike other *ratnins*, the offerings made to the *Mahiṣī* and the *Parivṛktī* had to a different divinity, made up of different substance and *Dakṣiṇā* differs. Such contrast elaborated (*KS.XV.4*)[14] in following way:

*'... अदित्ये चरुर्महिश्या गृहे धेनुर्दक्षिना नैरऋतश्च कृष्णानामः*

*व्रीहीणाम नखनिर्मिन्नानां परिवृक्त्या*

*गृहेशयेनी कुटा वंडापष्पुरा दक्षिणा...'*

'there is a *caru* for *Aditi* in the house of the *Mahiṣī*. The *Dakṣiṇā* is a milch-cow.

There is a *caru* of black rice grains, broken by the nails, to *Nirṛti* in the house of the *Parivṛktī*'s house. The *Dakṣiṇā* is a white, crumple-horned, tailless cow'.

| *Ratnin* | Goddess | Oblation | *Dakṣiṇā* |
|---|---|---|---|
| *Mahiṣī* | *Aditi* | *Caru* (generic) | Milch-cow |
| *Parivṛktī* | *Nirṛti* | *Caru* (black rice grains, broken by nails) | *kūtā* |

Contrary to what *Mahiṣī* had-a matrix of production in the form of an oblation to *Aditi*, the benevolent mother goddess and milching cow to officiating priest as *Dakṣiṇā*, attributes to the *Parivṛktī* reflects a negative specificity associated with "black" rice grains "broken by the finger-nails" and *kūtā* as *Dakṣiṇā*: black, more than often, has sinister associations in Vedic culture. Besides, there is recurring references of rice grains "broken by the fingernails" as in *MŚS.IX.1.1.36*[15], *KŚS.XV.3.14*[16], *ŚBr.V.3.1.13, TBr.I.7.3.4*[17]. Further, nails usually acknowledged as inauspicious in Vedic world. For instance, in *Darśapūrṇamāsau* (the New and Full-moon sacrifice), use of nail is completely prohibited (*ĀpŚS.II.3.3*), and at the very onset of the *Dikṣa* the yajamāna and his wife have their nails trimmed.

Such sinister design pertaining to the *Parivṛktī* may observe even in the *Dakṣiṇā*: the cow in question-the *kūtā* cow, in textual sources, described as crumple-horned or hornless, bad, tailless and "white" (*KS.XV.4*). Many other texts however, require a black color cow:

*KÚS. XV. 3.21* : *'कृष्णा वतसतरे अपहतोतमस्य'* (a black, broken-down heifer is the *Dakṣiṇā*)

*ÚBr. V. 3.1.13* : *तस्य दक्षिणा कृष्णा गौः परिमूर्णी पर्याक्रणी* (the *Dakṣiṇā* for this {oblation} is black, decrepit, diseased cow)

Asides of such physical inadequacy, the literary sources (viz. *MS.IV.3.8*[18]) add another problem-*kūtā* is a cow that kicks (*ápasphurā*). Numerous passages of *Atharva*, for instance, mentions non-kicking (*án-apasphur*) milching cow (*dhenú/ sudūghā/duhānā*) as a symbol of placid prosperity. *AVŚ.XII.1.45*[19], reads as:

*'सहस्रंधारा द्रविणस्य मेदुहां ध्रुवेवधेनुरनपस्फुरंती'* (let the earth, bearing in many places…yield {*duh*}me a thousand streams of property

like a steady {*dhruvá*} unresisting milching cow).

Against such background of everything attached to the *Parivṛktī* in the *Aśvamedha* and the *Rājasūya* symbolizing a part in sinister design, a question that one may ask more frequently, is, 'why such presumably inauspicious person allocated such important roles in rituals which, in turn, had its effect on the king individually as well as the security, power, and potency of the kingdom collectively'. Or, the *Parivṛktī*, given her potency of spoiling the rituals, just called.

## The Rejected wife as a potential ritual tool

From above discussion, what appears more conclusive, in opposite to structural role of the *Mahiṣī,* that-in order to carry on assigned *ratnin* offering, to take charge of the horse at concluding moments of *Aśvamedha*, and to be an active agent in obscene verbal exchanges, presence of the *Parivṛktī* has to be *sine qua non*. That, in *Aśvamedha*, her work assigned at the hind-end of the dead horse, which, aside others, considered as a source of fertility, the *Parivṛktī* infuses sexuality in ritual and thereby, making her presence inevitable.

For the Rejected wife lives outside of the traditional socio-sexual norms, she appears, in comparison to others do, to have more charged sexual energy. Such gradually build up unreleased passion, by ritualists, used in two different ways:

A] *Śatapath* at one place (*V.3.1.13; cf. TBr.I.7.3.4*), in the context of the *Rājasūya*, equates the *Parivṛktī* with *Nirṛti*[20] (the goddess of disorder and destruction). Accordingly, on account of such similarity, the *Parivṛktī* help repel the dangerous forces

which, inevitably, create chaotic situation against in following way:

*'याव वाअपुत्रा पत्नी सा निऋतग्रहीता*
*यधदेवास्याडअत्र नैऋतः रूपं*
*तदेवैत छमयति तथो हैनं सूयमानम निऋतिर्न ग्रहणाति'*

'(f)or a wife that is without a son, is possessed with *Nirṛti*; and whatever of *Nirṛti*'s nature there is in her, that he thereby, propitiates, and thus, *Nirṛti* does not take possession of him while he is consecrated.'

By this way the *Nirṛti* rite free the newly born *Rājana*, and her counterpart, goddess *Anumati* (auspiciousness and goodwill), help open the way for his upwards.

B] The Vedic authors, at second place, attempt to increase the military potency as well as other hostile activities of the *Rājan* by means of harnessing her sexual fury and other dangerous power. Mythological facts help demonstrate such prospects.

In one hymn (*RV.X.86*[21]), *Indrāṇī*, wife of warrior king *Indra*, seemingly plays a role of *Mahiṣī* in the *Aśvamedha*, for, she copulates with *Vṛṣākapi* (virile monkey), the victim. In this *Vṛṣākapi* hymn, although, *Indra* was declared as her husband, their relations seem to be difficult one. *Indra*'s behavioural pattern include, among others, beating of *Indrāṇī* on many occasions for her jealousy and ill-treatment of *Vṛṣākapi*. Elsewhere (*KS.X.10*), *Indrāṇī*, more specifically, declared as the *Parivṛktī :*

*'एषा वा इन्द्रस्य परिवृक्ति जाया'*

[she is the Rejected wife on *Indra*]

The context of such announcement: an oblation to be made to *Indrāṇī* under specific circumstances and with desired ends, elaborated (*KS.X.10*) with equal precision in following manner:

*इन्द्रान्ये चरुं निर्वपेत सेनाया मुथितायाम*
*राज्ञो गृहे सेना वा इन्द्राणी ब्रह्मणेवैनां*
*विच्चे संश्यति बल्बजा इधनं च बर्हिषि*
*चापि भवन्ति शंकनो वा एते जाता न्याये*

*नैवैनाममिनयति यत सा विंदेत ततो*
*दक्षिणा समृद्धया इन्द्राय चेन्द्रान्ये च चरुं*

*निर्वपेत सेनायामुत्थितायां राज्ञो गृह एबावा*
*इन्द्रस्य परिवृक्ति जाया गोष्वैवेनामधिनयति*
*बल्बजा इध्मे च बर्हिषि चापिभवन्ति*
*शंकनो वा एते जाता न्याये नैवैनाममिनयति*
*सा विंदेत ततो दक्षिणा समृद्धयै'*

'He should offer a *caru* to *Indrāṇī* in the house of the king when the *senâ* has been raised. *Indrāṇī* is an army. With a formulation he thus sharpens her to acquire (spoils). There are *balbaja* grass blades on the firewood and strewn grass (at this *caru* offering). These *balbaja* grass arose from excrement. In an appropriate manner he thus leads her off. The spoils she should acquire, from that the *Dakṣiṇā* (is made up). (This is) for prosperity.

He should offer a *caru* to *Indra* and *Indrāṇī* in the house of the king when a senâ has been raised. *Indrāṇī* is the Rejected wife of *Indra*. He thus leads her among the cows. There are *balbaja* grass blades on the firewood and strewn grass (at the caru offering). These *balbaja* grass arose from excrement. In an appropriate manner he thus leads her off. Spoils she acquire, from that the *Dakṣiṇā* (is made up). (This is) for prosperity.

Many entities of the matrix thus created-the logical connections between *Indrāṇī, senā, balbaja* grass, excrement, and cows-had their textual parallels, re-connecting them with more precision. Pertaining to *balbaja* grass, its (*TS.II.2.8.1-2*) parallel says:

*'बलबजनापि//इध्मे सं नह्येद गौर्यत्राधिश्कन्ना न्यमेहत्ततो*
*बल्बजा उदतिष्ठनगवामेन न्यायमपिनीय गा वैद्यंती...'*

'...*balbaja* grass, he should fasten to the kindling stick. Where the cow being covered (by a bull), made water (pissed), thence grew the *balbaja* grass; verily making him (sacrificer) follow the way of the cows, he (priest) causes him to obtain cows....'

From aforesaid passage, it appears that the *balbaja* grass is the product of wastes, urine in *TS* or excrement in *KS*, of mythological Ur-cow. Adding such product of wastes in ritual matrix reflects some kind of deliberate action: following of trail of droppings left by the herd which, in turn, permitting the sacrifice to acquire desirable booty. Furthermore, "*nyāyena*" from above passage, may translate as 'in the appropriate manner' which, again, in this context, may stand for 'along the way' (of the cows). Moreover, *Indrāṇī* is said to be "deity of the *senā*" (TS.II.2.8.1: *इन्द्राणी वै सेनायै देवता).*

*Indrāṇī*, thus, deriving her power by her structural role as the Rejected wife, infuses such acquired power to the "raised army" (*senāyāmutthitāyām*) in the command of the sacrifice. The sacrificer seeks, for successful expedition, to have a well sharpened army, for which, he should offer to *Indrāṇī* ('he whose sen*ā* is not as it were sharp should offer an oblation to *इन्द्राणी चरुं निर्बपेधस्य सेनाअसप्तशितेवस्यात्: KS.II.2.8.1*) in the proper manner, and *Indrāṇī* is the *Parivṛktī*/Rejected wife.

Deployment of such power of *Indrāṇī*, the Rejected wife, in expeditions, is yet another question to be dealt with. To begin with, it is apt to quote following two passages from the same text *KS* (*X.10* and *XXVIII.4*):

*'एषा वा इन्द्रस्य परिवृक्ति जाया गोष्वेवैना मधिन्यति'* (*Indrāṇī* is the Rejected wife of *Indra*. He thus leads her among the cows)'

*'तस्माद् दक्षिना प्रतिनुत्तान गोषु*
*चालयेत सालावृक्येवैनं भूत्या प्रविशति सैनं निर्दहत'*

(therefore the rejected *Dakṣiṇā* is not to be taken back, nor allowed to wander among the (other) cows. Having become a female hyena, she enters him (sacrifice or herd) and burns him/it up).

Apparently, *Indrāṇī* homologized with the rejected *Dakṣiṇā* at *KS.X.10*. For, she led among the cows (*goṣuevainām adhinayati*) as a hostile entity, only to return victoriously with whole of herd as booty. The rejected cow (*Dakṣiṇā* transforms herself into many fierce critters: lioness (*ABr.VI.35*[22]*; ŚBr.III.5.1.21*); tigress (*MS.IV.8.3*); female hyena (*ĀpŚS.XIII.7.12*), ravaging the herd/

family and thereby, not supposed to be let back in her parental entity, making *Indrāṇī* an appropriate entity to be prayed for to aid in military expeditions.

Nonetheless, she stands for good fortune against the lives and goods of else one, making *Indrāṇī* as the Rejected wife, an appropriate entity to be enlisted among figures to pray for successful military expeditions. It is worthy to quote following *pādas*:

*'प्रेतंपादौ प्रस्फुरतं वहतं पृणतो गृहन।*
*इन्द्रान्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुरमः।।'*

(Go forward, ye (two) feet; kick (*sphur*) forward; carry to the houses of the bestower; let *Indrāṇī* go first, unscathed, unrobbed, in front; AV.I.27.4);

Many texts belonging to *Black Yajur* like-*KS.VIII.17, MS.III.8.4 and IV.12.1, TBr.II.4.2.7,* provides instances of *Indrāṇī* in aggressive form.

*'इन्द्राणी पत्या सुजितं जिगाय*

(*Indrāṇī* won a victory with her husband; *KS.VIII.17*);

*'उदमसेनापति विद्योबिभेदा'* (*Indrāṇī* won a victory with her husband; *KS.VIII.17*);

*'इन्द्राणी प्रासहा संजयंति'* (*Indrāṇī* winning by force....; *KS.VIII.17*).

Reading of these *pāda*s firmly establishes *Indrāṇī* as a force powerful to such an extent that to whom, even her husband, *Indra*, the warrior lord, either loses or defers. Further, her power, derived from fury, as it appears, arose after sexual rejection, help secure victory of her husband and on the other hand, help her to win him back. Such mythic reconstruction with similar sort of features may observe in yet another myth-'the contest of *Mudgala*' (*RV.X.102*).

The myth reconstructs a chariot race wherein, *Mudgala*, the principal participant, despite of, being ill-equipped and his wife *Mudgalāṇī* is the charioteer, they win to great acclaim. In this myth, *Mudgalāṇī* called as *Indrasenā* as well as "the race" is undertaken for cattle. Various *pādas* of *RV.X.102* may read as:

102.2: *उत्सम वातो वहति वासो अस्या अधिरथं यदजयत्सहस्रम*
*रथीर मुन्मुद्गलानी गविष्टो भरे कृतं व्यचेदिन्द्रसेना'*

(the wind whipped up her robe when she mounted the chariot and won a thousand cows. For *Mudgala*'s wife was the charioteer in the contest for cattle; becoming the very army of *Indra*, she gambled and won the spoils);

102.5: *'तेनसुभर्व शत्वत्सहस्त्रम गवां मुद्गलः प्रधानेजिज्ञा'* (through him, *Mudgala* won as spoils of war a thousand and a hundred well-grazed cows');

102.9: *'येन जिगाय शत्वत्सहस्त्रम गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु'* (through (hammer) him *Mudgala* won a thousand cows, and a hundred, in the races.).

A *kūtā* is the piece of wood yoked to the bull (*RV.X.102.4*). The *kūtā* 'possessing millet-like horn' also constitutes in the *Dakṣiṇā* at the *ratnin* oblation of the Rejected wife. Albeit of their variations in applications, noteworthy fact is their appearances in the similar thematic matrix.

Yet another coincidence is the action of bull. The contexts of appearances seem to be very similar: *Indrāṇī* leading a procession, kicking her feet (*prá"sphur*) unscathed, unrobed (*AV.I.27.4*), and in this case, (*RV.X.102.4*) says: '... the animal with heavy testicles stretched forth his forefeet briskly, eager to win the race, longing for fame' *(प्र मुष्कमारः श्रव इच्छमानो जिरं बाहू अभारत्सिषासन')* It further extends in bull's action of excrement and pissing off during the contest itself, however, *Mudgalāṇī* gets splash during this process (*RV.X.102.5-6*):

*'एनमेह्यन वृषभं मध्य आजे'* (they made the bull piss in the middle of the race);

*'दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति क्षमा निष्पदोमुद्गलानीम'* (the droppings of the headstrong bull, who were running yoked to the wagon, struck *Mudgalāṇī*).

Akin to the position of the Rejected wife in *Aśvamedha, Mudgalāṇī*, too, have the literal contact with potent fertilizing ordure. Nevertheless, another similarity may observe in a simile describing, alike to *Indrāṇī, Mudgalāṇī*:

*'परिवृक्तेव पतिविद्यमानत पीप्याना कूच क्रेणेव सिंच्यन'* ('she has won, like the Rejected wife who wins back her husband, like a full-breasted woman who pours water even with a poor water-wheel....'; *RV.X.102.11*)

There emerges some kind of convergence, for, both of them won contest, either on behalf of or along with her husband (*KS.VIII.17* and *RV.X.102.2*) and for *Mudgalāṇī*, even cows. In both of myth, again, reward appears to be in the domestic sphere: winning back of theirs husband (*KS.VIII.17* and *RV.X.102.11*).

As observed by Witzel[23] (2012:437), '(W)e seem to need myth to *structure* our experience and to *explain* it. Also, it is necessary to transmit all our acquired traditional knowledge and all cultural trappings to our children by way of socialization....'. *Mudgalāṇī*, as *Rgveda* says, is the rejected wife who, despite much unevenness like inadequate resources, won chariot race, a thousand and hundred cows, but also, wins back her husband. *Indrāṇī*, appears to be a mythological analogue of the Rejected wife: *Indrāṇī*, as the Rejected wife, transformed her passion caused by rejection, into battle furry which, she won for and with her husband.

Through the ritual actors, both, political and religious, the construction of female sexuality appears to be a crucial point while fixing the domain around notion of authority. Against the *Mahiṣī*, a ritualized and idealized sexual counterpart of *rājan*'s masculinity, performing for the sake of dominion to be fixed, exhibited, and reiterated through ritual, these two case studies-the mythological model and her mundane counterpart, seems to be a kind of optimistic practical self-help guide to the wife who had fallen into the Rejected predicament. As provided, such fury to be used to advance the ends of her husband and ultimately, you will get him back: like a full-breasted woman who pours water even with a poor water-wheel (*RV.X.102.11*). But in case of sonlessness what makes her the Rejected wife (*Ś Br.V.3.1.13*), apparently, there seems to be an alternative mechanism for to reduce her unpleasant position: the models of power and her inherent potency to be used for ritual effectiveness. At another level of interpretation, nonetheless, the notable ritual actors-the kings and his wives including the *Parivṛktī* (and the *Mahiṣī*)-serving, on the one hand, model to reiterate the supreme temporal authority, and on the other, promoting the efficacy of their own way of honouring the god.

## REFERNCES


1. *Vedic Index of Names and Subjects*. reprint Delhi: Motilal Banarsidas, 2007 (originally published London: 1912), p. 497.
2. Ibid. 478.
3. As noted by Heesterman (*The Ancient Indian Ritual Consecration-The Rājasūya Described According To The Yajus Texts AndAnnoted*. The Hague: 1957: 6), '(t)o the Vedic thinkers the whole universe was constantly moving between the two poles-of birth and death, integration and disintegration, ascension and descent-which by their interaction occasion the cyclical rhythm of the cosmos...the point at issue for the Vedic thinker is not to disentangle and differentiate conceptually different entities and notions but to realize, to know, their connections (*bandhu*-)....'
4. The ritual recitation' is a legitimizing context, prescriptive in nature, concerned inherently, with division of the roles and their classification, and "introduction" of women in ritual codification. In, both, *Aśvamedha* and *Rājasūya*, female sexuality help define the masculine authority attached inevitably with the construction of the sovereignty. The Sexuality of both, *Rājan* as well as the *Parivṛktī*, seems to be socially constructed and ritually re-qualified. The requalification of the wife in the ritual arena apparently allows an expansion of religious control over the core areas-sexuality, reproduction, and progeny, for the patrons.
5. *Āpastamba-śrauta-Sūtra*.2 Vols. Ed. by G U Thite. Delhi.
6. *Vājasneyi-Samhitâ*. Ed. A Weber. Berlin-London 1852.
7. *Śatapath-Brāhmaṇ in the Mādhyandina-Sākhā*. Ed. A Weber. Berlin-London 1855. (Trans. Julius Eggeling, 1882-1900).
8. *Vaśā* is said to be the food of ***Agni*** in *Rgveda* (*RV.VIII.43.11*) and restricted to those to be offered into the fire (*RV.II.7.5; VI.16.47; X.91.14*): "A *Vaúā* is offered to Agni in four out of the five occurrences of the term" in *Rgveda*. In *Atharva*, it is a cow which, after being offered, transfigures as some cosmic entity that, in due course, gives rise to worldly forms and conventions. In this context, equating the *Parivṛktī* with the Vaśā, invariably, places otherwise sonless *Parivṛktī* into wider socio-sexual matrix: her energy transfigured into making and sustaining of kingship.

9. Though there is lack of a clear-cut system of representing the *Ratnins*, '(w)hat the original system might have been can be seen in the *Aśvamedha* where the royal consorts are, though not brought together in a ratnin list, classified together with categories of priests, charioteers and headmen, and the points of the compass, all connected, as it seems, by the number four' writes Heesterman, J C (1957: 53). Invariably, these royal consorts joined with another four groups of attendants: the *Mahiṣī* and *Parivṛktī*, among others, respectively, with daughters of r*ā*jas and daughters of *Sūtas* and *Grāmaṇīs*. The *Sūtas* and the *Grāmaṇīs*, are said to be "king-makers". Moreover, these royal consorts, quite often, identified with the three divisions of space, atmosphere, and sky.

10. *Baudhāyana śrauta-Sūtra*. 3 Vols. Ed by W Caland. Calcutta: Asiatic Society of Bengal, 1904-24; reprint New Delhi: Munshiram Manoharlal, 1982.

11. AV-*Atharva Veda*.2 Vols. Ed. W D Whitney. Harvard Oriental Series. Vols. 7 and 8. Cambridge: Harvard University Press, 1905.

12. *TaittirīyaSamhitā*. 8 Vols. *Ā*nandāúrama-samskrta-granthâvalih, granthânkha 42. Poona: Ânandâúrama, 1978.

13. *PañcavimaBrāhmaṇa*. 2 Vols. Ed. by P ACinnaswamiSastri and P. PattabhiramaSastri. Kashi Sanskrit Series, no. 105. Benares: Sanskrit Series Office, 1935 (Trans. by W Caland. Bibliotheca Indica, no. 255. Calcutta: Asiatic Society of Bengal, 1931).

14. *KāthakaSamhita*. Ed. By V Satvalekar. Bombay. Bh*ā*ratamudranâlayam, 1943

15. *Mānava śrauta Sūtra.* 2 Vols. Ed. J M Van Gelder. New Delhi.

16. *Kātyāyana śrauta Sūtra*.Ed. H G Ranade. Poona. 1978. (Includes Trans.).

17. *Taittirīya Brāhmaṇa*. 4 Vols. Ed. A Mahadeva Sastri. Mysore 1908-21.

18. *Maitrāyaṇī Samhitā*. Ed. by V Satvalekar. Bombay. Bh*ā*ratamudran*ā*layam. 1940.

19. *Atharva Veda śaunaka*. Ed. VishvaBandhu. Hoshiarpur: 1962.

20. A replica of the *Nirṛti* rite may observe in the *Agnicayana* (the piling of the fire altar) wherein, a special sacrificial altar of three bricks to be constructed at a place with the soil, by nature, saline (*svakṛta-iriṇa*) or cleft (*pradara*), and to be situated in South-

West of the sacrificial ground, for *Nirṛti*. Concerning with 'the altar of Nirrti', Says *śatapath* (*VII.2.1.5*), '(w)hen the gods restored the relaxed *Prajāpati*, they cast him as seed into the fire-pan, the womb; the fire-pan being indeed a womb. In the course of a year they prepared for him this foundation, even this (terrestrial) world; the *Gārhapatya* (hearth) being this world: therein they generated (reborn) him. And whatever evil there was in him, whatever mucus, whatever inner and outer membrane that they removed from him by means of these (bricks); and inasmuch as thereby they removed his evil, his corruption, these are *Nirrti's* (bricks)'. In a like manner, the sacrificer (*yajamāna*) casts himself (*śBr.VII.2.1.6*).

Looking at the *Nirṛti* rite in the *Rājasûya* from this perspective, the *râjan* (as a sacrifice called in the *rājasûya*), after leaving aside his embryonic cover, by means of offerings to *Nirṛti*, he undergoes a new birth. For, the *dakṣiṇā* at the *Nirṛti*rite (*kṛṣnavāsh* or the black garment, among others) called as '*nirṛtyayrûpam'*. Invariably, this stands for acknowledging of the cover of the embryo as a personified representation of goddess *Nirṇti* herself, and giving away of this garment as *dakciṇā* seems to be a way of discarding embryonic cover.


21. *Rgveda.* 4 Vols. Ed. by F Max Müller.Chowkhamba Sanskrit Series, Vol. 99. reprint Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Series Office, 1966. (Partially Trans. by Wendy Doniger O'Flaherty. New Delhi: Penguin Books, 2000; Trans. by Stephanie W Jamison. Oxford: Oxford University Press, 2014).
22. *AitareyaBrāhmaṇa*. 2 Vols. *Ā*nand*ā*úrama-Samskrta-Granth*ā*-valih, Granth*ā*nkha 32. Poona: *Ā*nand*ā*úrama.1931 (trans by Keith, AB. London. Harvard Oriental Series No. 25: 1920; Reprint. Motilal Banarasidas, Delhi. 2016).
23. Witzel, Michael E J. *The Origins of the World's Mythologies*. New York: 2012.



**K Prasant Shekhar**
Assistant Professor
Department of History
ARSD College, Dhaula Kuan
University of Delhi, Delhi


❑❑❑

# Folklore and Oral Traditions as Source of History

• **Dr. Daljit Singh**

Folklore and Oral traditions are the important authentic available sources for the reconstruction of the past. Folklore and oral traditions connote oral transmission from generation to generation - a tale, belief or practice thus handed down or anything bound up or continuing in the community or society. It may also imply continuous literary or musical development. Folklore consist of all verbal testimonies which are reported statements concerned with the past.[1]

Written literature is a garden which has been carefully tended by an expert gardener, oral traditions and folklore is a forest of wildflowers which have grown untended, but which have a haunting beauty of their own. Written sources or Literature springs from life, but folklore and oral traditions presents the better projection of the innermost recesses of the social and cultural life of a society, its traditions, customs, habits, behaviour, rites, etc.[2]

Folklore and traditions are significant to explain and understand societies in the context of preserving cultural diversity and protecting minority cultures, especially those of indigenous peoples and marginalized social groups like the peasantry, labour, ethnic tribes and women. Folklore and oral traditions, as an important element of the cultural heritage of every tribe and nation, become important to history as well. Folklore of a group reinforces its sense of ethnic and social identity. It is a living and still developing tradition, rather than just a memory of the past, particularly with the growth of ethnic crisis in recent times. It is through such an understanding that folklore and oral traditions are considered as an important source for history.[3] Oral history is the

memory of past events and occurrences that is orally passed on to the next generation. Oral testimonies, on the other hand, are the words of an eyewitness. Consequently, oral testimony becomes oral history with the shift from one generation to the next.

Oral tradition constitutes an integrative and cultural institution among most people. It is a communal activity, which informs as well as embodies the precepts and values that are permanent including those that are changing in that society. It contains the society's wisdom and achievements in art, politics, religion, health care and so on. Oral tradition and folklore, in essence, almost always tends to capture cultural reality. Oral tradition covers a wider range of subject matter and can be found in a variety of forms. The form of oral tradition and folklore is determined more by its functional character than its oral nature.[4] This form varies widely from people to people. There are some similarities in the form of oral tradition and folklore between societies, but there also exists uniqueness in such different forms of oral tradition and folklore to be found in each society. Oral tradition is quite different from personal knowledge attained by any person. It is an aggregate of the community's cultures handed down from one generation to another. Before any information becomes a set tradition, it must have been preserved and passed down by a much older generation to another through oral transmission.

Oral tradition not only express emotions and arouse it in the listener, but also transit knowledge, record and represent various aspects of cultural life such as values, customs, attitudes, history, social institutions and arts. The bulk of oral traditions comprise folktales which could be grouped into stories of divination, hunter's experiences, tales of women, either about love, intrigue or betrayal, expiatory and moralizing tales such as legends or fables.[5]

Folklorists and oral historians share an interest in *homo narrens*, humans as storytellers.[6] Story telling is a very popular past time with the Punjabis. During months of extreme winter, groups of men, women and children sit near fireplace, or lie akimbo in their beds under cozy quilts, or in summer sit out in the open under the sky and tell or hear stories and thus beguile time. Stories are not told during daytime because of the belief that if that is done, poor travellers tend to lose their way. The tales told, thus, became well-preserved valuable treasure handed down for ages from generation

to generation. Old people relate them with special relish. Every village has its own expert storytellers. Their narration is so dramatic that even kids stay till a story comes to its end. Sometimes a story goes on for a whole night, and some-times the narrative is so linked that it is kept up night after night for long time.[7] Joan Didion puts forward this notion in referring to the small actions we build into dramatic scenes and even events : "We tell ourselves stories in order to live, ... we live entirely ... but imposition of a narrative line upon disparate images, by the 'ideas' with which we have learned to freeze the shifting phantasmagoria which is our actual experience."[8]

It is no doubt seems alien to historians to describe the doing of oral history in terms of process of freezing phantasmagoria, yet it is not such a farfetched analogy. This is because the filtering of actual occurrences is carried on through the scrim of remembrance.

The world-famous *Panchatantra* is an anthology of tales which were popular in Punjab in earlier times when the Aryans were settled there. The oldest and most famous book of fairy tales, *Vad Kaha*, composed by Rishi Gunadhya was written in Punjab in the then prevalent dialect, *Paishachi*. This collection is not available now, but *Kathta Sarit Sagar* based on it and written in Sanskrit by Somadeva is available.

The famous Arabic collection of fables, *Kalilawa Dimmah* is based on the *Panchtantra*. Similarly, most of the tales of *Alif Laila* are said to have originated from *Katha Sarit Sagar* or *Vad Kaha.* Punjab has thus been an ocean of innumerable gems of folktales that have spread all over the world.

There is a strange paradox in our culture, a truth about face-to- face storytelling that we have trouble admitting to ourselves: often we are willing, on occasions of forced intimacy, to tell our stories and to embroider upon them to make them more story like even when that makes them less factual. The very subjects we discuss with friends only when we know them very well will emerge more easily and with less circumspection when we can tell them to people with whom we are not acquainted, many of whom we will never see again. And because of simple rules of reciprocity, when others enter such life-storying, we find ourselves responding

with stories of our own, even ones we never intended to tell anyone.

Similarly, the seeker after life stories, of family and community folklore, of intimate oral history, relies on the fact that the informant will be willing and ready to tell us all precisely because of the lack of familiarity with the investigator. But the investigator must, then, factor in the entire range of possibilities opened up, when asking for these stories. Though fact and truth may be desired, it is in our social character to tell a story which catches the interest of others. That commonly means conforming, in some degree, to our cultural patterns of expectation for storytelling, including the conventional ways we have of "spicing things up". Any life story that makes any pretence at being a record of actual past activities has to tread this line between being true and being interesting.[9] Moreover, there are certain kinds of stories which, when named are presumed to be either fictional or at least, exercises in stretching the truth.

The attainment of such importance also demands the need for intellectual property protection of expressions of folklore that is made necessary vis a vis modern information technology. As the Indian society is tradition bound, it is not wrong to say that the folk memory and oral traditions controlled the mode of thinking and lifestyle of people. Since folk literature and traditions include impersonal documents of society, a legacy of the total society, society's own expressions about itself, a qualitative change can be made in historical writings. But the fact remains that only by careful evaluation of such sources, the historian can arrive at an assessment of the authenticity of the information supplied by the initial informant and of the continuity or discontinuity of the chain transmission. Once a testimony of folklore and oral traditions has been understood, one can proceed to the final stage of critical analysis by means of comparison of testimonies of the folklore which will lead to a better assessment of the evidence. The people transmitted it spontaneously through the word of mouth. Oral traditions are rich source of knowledge. These Oral narratives constituted the local or regional history. To better represent the local or regional past, it is imperative for any researcher to uncover through such local historical sources. Therefore, it becomes necessary to decode the past by innovating an unconventional

method: the use of oral sources. Thus, in order to make oral tradition reliable as a valuable source of historical writing like other sources, the historians using this source must be meticulous, painstaking and cautious. Hence, the historians using oral traditions must possess an intimate knowledge and a clear understanding of the local languages, tradition and customs of the place and people whose oral traditions they are collecting for reconstruction of their history. Jan Vansina's work *Oral Traditions: A Study in Historical Methodology*, is a crucial methodological intervention of how oral traditions can be an aided source in reconstructing a society with scarce written evidence. Vansina argues for the equal value of oral source of history with the written records.[10]

The local historian contributes more to the history because he talks about the common people, their living conditions, their manners, their customs, etc. Such information is not ordinarily provided by the so-called traditional historians. In a relative sense, oral history offers immensely more to the subject of social and folk history than it does to the political history. This egalitarian bent is a conspicuous feature of the oral history. For the masses living in the rural India and the artisans, the folk tradition has served as a carrier of knowledge and wisdom from one to the succeeding generation. Illiterate as the masses were, they expressed themselves collectively in the folk-art forms and folklore. Thus, folklore assumed the character of community memory. As Sir Richard C. Temple says about folk tale, "It is the true reflex of consciousness of the community."[11]

The term, folklore, is probably as old as mankind as it must have originated in the pre-literate era of the human civilization. But in the vocabulary of academics its use is of comparatively recent origin. In 1848, William Thomas coined the term folklore. He used it for popular antiquities and the criterion for the definition of folklore is that it is in oral tradition and is employed as a method of transmitting knowledge, wisdom psychological responses of a group, values, customs, etc. from one generation to another.

The historian tries to find the belief of the people, what they assume, what had really happened through the local history and folk history. The local and folk history generates interest in the native view of the past which may be in the form of a collective tradition or a personal reminiscence.[12]

The folk history of groups and cultures, which have predominantly been oral rather than written, can be better accessed through the local history. Only the local history can unlock and preserve the folk history and oral traditions. The raw material for the local history is the human memory which of course serves only as long as its possessor lives, and it often deteriorates even sooner. Its preservation and dissemination are a worthwhile endeavour. Every death is a potential loss of a narrator and thus an absolute loss of societies' collective historical memory. Whenever one of these dies, a fibre of Ariadne's thread is broken, a fragment of the landscape literally disappears underground. Yet oral traditions or folk history is by far the most intimate and the richest of historical sources, the one which is most filled with the sap of authenticity.[13]

The local and folk historians' collected and published works made little or no effort to comprehend the life of folk who supplied it.[14] These historians did not write the descriptive and detailed information about whatever they had collected although their subjects may had a very rich oral tradition and information. Oral tradition is a story, tradition or practice that is shared orally or through speech usually handed down from generation to generation. Oral tradtion is usually eventually written down but can tell us so much about the society and the people who originated them and allowed history to be kept and shared by groups who do or did not have writing. Ancient texts of Hinduism, Buddhism and Jainism were preserved and transmitted by an Oral History.[15] The major sources of narratives in the ancient period are a series of texts composed in Sanskrit beginning from the *Rigveda* to the great epics, the *Mahabharata* and the *Ramayana* which were earlier part of the Oral traditions of the people. The *Rigveda* of the early Aryans is the oldest sacred text in the world and the collection of hymns in the *Rigveda* is the earliest source. The hymns were composed orally and were part of the oral traditions for hundreds of years before they were written down and collected in *Rigveda*.

In history also, great changes and new trends made headway. The focus of history has moved away from the political history of kings, rulers, nobles and officials to the writing of "New" social, economic and culture histories wherein the ordinary women are put back into historical narratives, and wherein historians have turned

their investigation to the development of group identities, particularly workers, peasants, racial and ethnic types.[16]

The study of oral tradition and folklore developed in the eighteenth century after the industrial revolution in England and Europe in the wake of drastic transition from present societies to the rise of capitalism. In India, folk and oral traditions are generally identified with peasant society or rural group. If one adheres to this narrow conception of folk, one is likely to draw an inference that the city-dwellers do not have folklore. It is equally a fallacious view that folklore or oral traditions or literary sources were reduced in the remote past and have no relevance to the society which retains it. In views of fragmentary survival of folklore, the scholars believe that the modern age which heavily depends on literature and rational culture, does not produce folklore. These are historical accounts that are transmitted from one generation to the next through words of mouth. They can be in the form of praise poems and songs telling the heroic deeds of an ancestor, a clan or a whole community of people. These oral accounts open an important window on to the past. According to Vansina," Oral traditions constitute important primary hypothesis that have to be confirmed by independent evidence such as that uncovered by documentary or archeological research."[17]

Oral traditions contain cultural information about the past carefully preserved and handed down from generation to generation. Oral tradition is a source of historical material. In writing history, there are various sources available at the disposal of the historians. The utmost concern of historians is the possibility of gaining the knowledge of events and actions that happened in the past, which are no longer available for scrutiny or direct study. Since the persons or events in which they are interested are gone, historians must rely for information on any evidence from the past concerning events or person. Oral traditions are good source of historical writing that has in the recent times been given a prime of place in historical scholarship.[18] According to Stevens, "It becomes the job of the historians to discover which elements in the oral tradition are reliable as sources of data, which are unreliable and which can provide clues to the locations of reliable sources elsewhere, and this task can be so frustrating as to cause the researcher to reject oral sources altogether."[19] The archaeological

record contains material remains of past human behaviour that provides physical evidence for many of the same events and processes referred to in Oral traditions. Since oral traditions and archaeology have inherent limitation, combining them in research can create knowledge that goes beyond what is possible using either by itself.

The term 'folk' is a wide term and appeals differently to different scholars. The term can refer to any group of people who share at least one factor race, occupation, language or religion. A member of a group may not know all the other members, but he/she would know the common core of traditions of the group which help the group to have a sense of group identity. This group of people may be denoting a country, a province, a district, a village, a religious community, a social group or a geographical region. But the fundamental pre-requisite is that items of folklore must be shared by the social group. In the medieval period, the ballads of the heroes, the narrative of the lovers, of the *Bhagtas* and Yogis were part of the oral narratives of the people. The professional groups of bards and folk singers were mainly from the low-caste community of the *Bhats* and the *Mirassi.* They hardly had any education, but they were excellent talented artists with great command over language and rhetoric. These bards were great narrators for only significant situations in the narratives were composed in the verse according to folk forms of poetics. It may be an ethnic group. In India, one can speak of a large number of folk groups based on distinct folk traditions. For instance, every Punjabi, despite many differences of religion, creed or colour, are familiar with the folk-literature like the Warish Shah's *Heer, Pilu's Mirza Sahiban and Hashim's Sassi Punnus.* These compositions are the workmanship of famous writers in Punjabi and form part of the written literature, but the love tales for untold generations have also been a part of folklore. The folk dances like the *Bhangra*, *Giddha, Sammi and Ghumar* are all accompanied by folk songs. On all occasions of social or religious significance the villagers seek self-expression in folk music. To a Punjab villager oral literature is a living entity that pervades his life and in part and parcel of his joys and sorrows. Even an occupational group has its own folklore.

There is an abundance of heroic, devotional and romantic tales in Punjab folklore. Very often they are in verse. Tales of *Puran*

*Bhagat*, *Gopi Chand* and *Hakeetat Rai* belong to the devotional type, whereas *Raja Rasalu*, *Sucha Singh Surma* and *Jeuna Mor* belong to the heroic category. *Heer Ranjha*, *Sassi Pannu*, *Mirza Sahiban*, and *Sohni Mahiwal* are particularly popular as tales of romance, and many eminent poets like Waris Shah and Hashim have narrated them in verse form. These sentimental tales are always sung in typical strains. For every tale the popular tune is different. *Mirza Sahiban* is sung in long wistful notes; the tune is known as *Sad* (Call). It is mournful tune, and the singer generally puts one hand on his ear and makes gestures with the other while he sings.

Punjabi oral literature is tremendously rich in proverbial and gnomic lore. Proverbs, which play a vital role in the daily life of the people, are a perennial source of wit and humour. When a piece of advice must be tendered and a particular type of behaviour or action has to be encouraged or discouraged, the Punjabi takes frequent recourse to proverbs. Punjabi proverbs are a true reflection of the heart and soul of the people and grow out of their social consciousness. They are perennial source of inspiration to community.[20]

In the Indian context folk is essentially bound up with family, caste and space or territory of its origin. Nonetheless, folk tradition has its own channels for intermixture and spread which help in transgressing the bounds limiting its spread, folklore's mobility or transmission takes place through pilgrimages, fairs, *fakirs*, monks wandering minstrels. The regional folklore got enriched by the Bhakti saints who visited various parts of India and reference to this effect are found in folktales, songs, riddles, proverbs. Similarly, certain all India myths and aspects of the classical musical and literary tradition which in its origin were a part of literate tradition with the passage of time became integral part of folk tradition. A detailed analysis of the folk literature would reveal a fine blend of the many traditions forming linkages of integration of local with the all India cultural tradition.

Punjabi Ballad-writers of the Middle Ages again and again made these episodes the subject of their poetic creation. Legends have a special appeal for the Punjabis for the struggle social stratification which they represent. The Characters are rebels against a stagnating social system and values.

Some legends are heroic in content, and they sing praises of the warriors who sacrificed their lives for the country[21]. Raja Rasalu is the most famous character of this heroic cycle. He was the son of King Salvanhan of Sialkot and is supposed to have lived towards the end of the first century AD. In Pothohar and Sialkot, there are many places associated with Raja Rasalu. The marks of the hooves of Raja Rasalu's horse and the lunge of the sword which he is supposed to have aimed at a witch are still preserved at Cheer Par. Some legends, local in character because they pertain to a certain village, river, rivulet, etc, remain restricted to those areas only.

Sir Richard Temple collected many legends of Punjab and recorded them in three volumes, under the title *Legends of the Punjab*, but the legends collected are only a small part of the vast ocean which has not yet been and cannot easily be documented. These are still orally transmitted from one generation to another.

Punjabi fairy tales are extremely fantastic. The heroes and heroines of these tales' pass through various difficulties but by virtue of their intelligence and physical prowess they defeat the antagonistic forces and succeed in achieving their object. The stories always end in the victory of the hero. Among the important fairy tales of Punjab are *Phulan Shahzadi*, *Mirchan Sahzadi* and *Baingan Shahzadi*.

Anecdotes, called *batan* in Punjabi, are an essential part of folklore and are very popular. They are entertaining as well as instructive, they throw light on social injustice and inequality, make sarcastic comment on the weaknesses of human nature, and are used as proverbs on appropriate occasions.

Historians' objection is that folklore does not relate to any specific time or period and erroneously feel that it has been transmitted without any change from the hoary past. The folk tradition is reflective of society. It is a mirror in which society sees its image. This image keeps on changing in accordance with the changes taking place in society. Incidentally if there happens to be no change for a considerable period, this would mean two distinct features of the Indian society, continuity and conservatism. But to think of the presence of gap between folklore and historical reality would be an irrational view of obvious, since these two aspects are

complementary, this imposes a heavy burden and obligation of the discipline of history to know and explain the social context of the folklore. These are long range of questions which a student of history can pose to grasp the full context of the folklore.

Moreover, oral literature lives in tradition and is not merely a personal subjective reflection of an individual who according to Edmund Wilson's famous 'The wound and the bow' theory is giving expression to his personal woe. The canvas of oral literature is larger for it is a record of tradition of culture and it keeps on changing with the change in the collective life of the community. On the contrary, the text of a literary creation like that those of Kalidas, Shakespeare, though sometimes older than even some of the folk-literature, remains unchanged. While the text of oral literature remains in a continual state of flux. In essence, one principal difference between the oral and written literature is that oral creations enjoy multiple existence while the latter exists in fixed form and content.

In the oral literature, there is greater rapport between the narrator and receiver; there is a living contact; there is greater immediacy, empathy and spontaneity; there is greater freedom of language, expression and gesticulation than it is in the written literature. The oral literature in this way is a living literature, it is nearer the folk, their lifestyle and mode of thinking; it is universal and belongs to everyone in the community.

In this regard, folklore is an impersonal document. History based on such evidences is a history of the whole people in which folk are seen as people, one united group and as human beings in their folk relationship. It is also a history in which the people are the historians as well as the part of history, telling their own story in their own words everyman's history, for everyman to read. This is "collective" history, gathered from thousands of contributors, from all classes and ranks; it is collected and recollected history, recorded from the memory and the lips of informants. To write the history of the people folklore may be considered as the best source. It can render and enlarge its scope and concept, as that would include the expression of the masses. In brief, the folk literature furnishes living evidences on the basis of which we can construct relatively more authentic history, and, at the same time, we can accept them as charters of standardization.

However, there are pertinent dangers in the usage of folklore as a source of history as well. Herein lies the responsibility of the historian. Before using folklore as a source, the historians always prefer to verify the information as per the standard methods of verification. They recommend the use of folklore material when the standard source is either scanty or absent, or when the folklore provides the additional information. In the application of folklore contents and implications to history, of discerning the "historical sense" in folklore, the historian will have to be aware of the thin line that exists between history, oral history and oral tradition. This calls for a combination of methodologies of history and folklore. P. Stevens said that, "He (historian) must use oral traditions as guides for comparative research. Elements in traditions must be cross-checked with other traditions, with anthropological studies, with archeological data, with the result of linguistic methods such as glotto-chronology and with written records. It is not an easy job (using oral tradition as a historical source). But with patience and care and the ability to transcend his own cultural and educational biases, the historian... can make good use of oral traditions."[22]

Traditions play an important role in writing the history or getting the information for unexplored facts of the history. No doubt written sources are very important but at the same time for regional history traditions and oral based evidence are very important. For example, sources of Punjab history i.e. *Janamsakhis* the *Gur Bilases* and the *Prachin Panth Parkash* are entirely based on tradition. But these sources are very important for the researchers. Oral traditions and folklore are the most available sources for the reconstruction of the past. Oral traditions are known to the basis of many written sources, the historians can arrive at an assessment of the authenticity of the information supplied by the initial informant and of the continuity or discontinuity of the chain of transmission. Once a testimony of a tradition has been understood, one can proceed to the final stage of critical analysis by means of comparison of testimonies of the tradition which will lead to a better assessment of the evidence. Paul Thompson writes, oral history is as old as history itself. It was first kind of history. And it is only quite recently that skill in handling oral evidence has ceased to be one of the marks of the great historian.[23]

As regards its importance as an alternative source to fill up gaps in history, it may be stated that the historian must first of all be aware of the basic difference between history and folklore, myths and legends; second, that the historian be trained in the finer details of methodology of both history and folklore as well, so as to generate a holistic and meaningful reconstruction of the past, corroborated by other evidences.

## References


1. Paul Thompson, *The Voice of the Past,* Oxford, 1978, p. 19.
2. Sohinder Singh Bedi, *Folklore of the Punjab,* National Book Trust, New Delhi, 1971, p.85.
3. Meeta Deka, 'Folklore and Northeast Indian History', *Sociology Mind,* Vol.1, No.4, 2011, p. 173.
4. Nwankwo Uchenna Martins, 'The Position of Oral Tradition (Myths, Mythology and Legends) in Historical Records', *International Conference on Humanity, History and Society,* Vol.34, p. 160.
5. Monsuru B. Muraina, 'Oral Tradition as a Reliable source of Historical Writing: Arguments for and against and Implications for Historical Writing in Education', *Historical Research Letter,* Vol.22, 2015, pp.18-19.
6. Cf. Barbara Myerhoff, 'Telling One's Story', Center Magazine, 13 March 1980, p. 27.
7. Sohinder Singh Bedi, *Folklore of the Punjab,* pp.95-96.
8. Joan Didion, *The White Album*, New York, 1979, p. 11.
9. Roger D. Abrahams, 'Story and History: A Folklorist's View', *The Oral History Review,* Vol.9, 1981, pp.1-11.
10. K. VijayaKumari, 'Oral Tradition as Source of Construction of History of Pre-Literate Societies', *Asian Review of Social Sciences,* Vol.7 No.3, 2018, p.141.
11. R.C. Temple, *The Legends of the Punjab,* Vol I, Patiala,1963, p. 1.
12. Larry Danielson, "The Folklorist, the Oral Historian and Local History," *Oral History Review,* 1980, p.64.
13. Joseph Ki-Zerbo, 'Oral Tradition as a Historical Source', *UNESCO Courier,* April, 1990.

14. Joyner Charles W., 'Oral history as communicative event, A folk-Loristic perceptive', *The Oral History Review,* 1979, Oral History Association, Denton, Taxes, p. 48.
15. Harmut Scharfe, *Handbook of Oriented Studies*, 2002 pp. 24-29, 226-37.
16. Meeta Deka, 'Folklore and Northeast Indian History', op. cit., p. 174.
17. Jan Vansina, *Oral Tradition : A Study in Historical Methodology*, Great Britain, 1985, p 196.
18. Jack Goody, *The Interface Between the Written and the Oral,* Cambridge, 1987, pp110-121.
19. P. Stevens, *The Uses of Oral Tradition in Writing of African History,* Tarikh, Vol 6 (1), 1978, pp 21-30.
20. Sohinder Singh Bedi, *Folklore of the Punjab,* op. cit., p.99.
21. R.P. Malhotra, Kuldeep Arora(eds.), *Encyclopaedic Dictionary of Punjabi Literature,* New Delhi, 2003, p.144.
22. P. Stevens, *The Uses of Oral Tradition in Writing of African History*, pp. 21-30.
23. Paul Thompson, *The Voice of the Past*, op. cit., p. 19.

**Dr. Daljit Singh**
Incharge,
Sri Guru Tegh Bahadur National Integration Chair
and
Associate Professor & Head,
Punjab Historical Studies Department,
Punjabi University, Patiala (Punjab)

❑❑❑

# Music and Dance in Rock Art

• **Virendra Sharma**

Art consciousness has been manifested in a multi-faceted form in humans since the earliest ages. The combination of tempo, rhythm, and tone among the freedom of wild animals has also been expressed in a variety of ways. These archaic forms of music have also been associated with the complex state of mind of the human mind and superstitions of the supernatural type. The expression of dance and singing through illustration is not as easy as singing. There is a complete lack of language and type of information for singing and it is impossible to express it through pictures. The dance may have originated as a happy expression, which gradually expanded to take the form of collectivity. This euphoria became a symbol of victory after some time and in a way it developed itself systematically. It is very difficult to say how to dance and musical instruments originated, but it developed a community by starting to connect everyone without any discrimination.

The artistic spirit manifests itself in many ways, one of which is dance and the other is music. The pre-historic paintings as well as dance and music are associated with primitive magic, beliefs, and rituals. According to Heinrich Zimmer, dance is an ancient form of magic. The dance becomes amplified into a being endowed with supernatural powers. His personality is transformed in another way. Like yoga, the dance induces trance, ecstasy, the experience of the divine, the realization of one's own secret nature, and finally merges into the divine essence. The real assessment of its position and purpose, in pre-historic times, is very difficult to understand. The reconstruction is made from the available data, in the form of paintings, the facts seem to be quite near to the point. The painters

were living in a society that had a developed sense of art and was interested in its manifold aspects.

Scholar M.C. Burkitt remarks its own way to understand that 'It was probable that pre-historic man also indulged in ceremonial dances, when the game was scare and struggle for existence became acute'. This statement may be correct and relevant in regard to people living in the pre-historic European area. But in the Indian context, the above statements have been just the reverse. Here it seems that there was no scarcity of animals and the struggle for existence was not so acute. This seems to be the reason why most of the painted areas are situated in the forest regions and many of which even now abound in beasts of prey. In the case of Europe, the animals depicted in the paintings are now extinct. But the animals depicted in the Indian paintings are those which can only survive in a tropical climate. This suggests that the climate of this region has not changed so much as in the case of Europe which created a scarcity of the animals in that region. In the earliest paintings in India, the animal figures are mostly, bison, antelope, deer, etc., which still exist in this region. Secondly, the struggle for existence was greater for the animal than human. The human had developed stone tools that protected him, and with its help, he tried to acquire supremacy over the animal world.

It is obvious that the life of the pre-historic people was very tough. They struggled against nature with the help of their simple primitive weapons, generally made of stones and bones, by them.

They were mainly dependant on hunting for their livelihood. Often they had to chase the animals and birds, which was really a difficult job. After successful hunting, it would have been rather impossible for them to check their instinct of joy. This joy would find expression either in the form of singing or dancing. A large number of such hunting groups are depicted in the rock paintings, where the hunters are shown dancing. These paintings depict either the simple dancers or sometimes dancers associated with various musical instruments. Vocal music has its own limitations as a subject for the painter to express on the wall. The singing can be represented by the movement of the lips. This type of

representation was possible only when the artist was able to draw the details of the human features. It is found that the pre-historic artists did not have either skill or the inclination to execute the detailed features of the man or the animal. Time existence of music, therefore, can be accessed on the basis of those painting scenes, which represent the dancers and instrument players.

The rock-paintings available from across India, enable us to deduce that even the unrestrained life of the savage people was somewhere regulated, by rhythmic patterns of movements and sound and that the artists had the idea of the vitality of the dances and could reproduce the movements and the rhythm. D.H. Gordon pointed out that 'There are also dancing figures full of vitality, and displaying a clever rhythm of line calculated to produce a lively sense of movements one finds many excellent examples of arrested movements; and the clever use of balanced curves combined with the forward and upward flick given to the skirt'. Thus the forceful dancing groups clearly show that the pre-historic people had developed an aesthetic sense which had formed their social character. It may be recognized that only a limited aspect of the total field of dancing or singing is represented in the paintings, which is not sufficient to give us any real insight into its extent. There are mostly two categories of dancers found in the rock-paintings, viz, individual dancers, and dancers in groups. The dancers are either males or females. Further, in some of the cases, these dancers are having instruments and sometimes they are without instruments. We found single male dancers as well as female dancers invidiously. In a group of dancers, we also found the group of male dancers and female dancers separately. But sometimes we found a mixed group of dancers of males and females. It shows social equality among men and women at that time. Most of the dance figures found without instruments in their hands but some figures found with instruments with them. It shows that they were aware of the instruments of music and also know how to play with rhythm.

It has been found that the paintings classified under the earliest group have a few dancing groups. The paintings depicting dancing which belong to the early series are generally of group dancers. The dancers sometimes have animal masks over their

heads. No sign of individual dancers in these series is so far found. This indicates that in the earliest times the dancing constituted a group activity only. With the progress of the series, we get a large number of individuals as well as the group dancers. In the late series, musical instruments were also introduced to support the dances. Thus it may be presumed that the advancement of the society is indicated in the rock-paintings with an increasing cultural activities which reflects the progress of society.

The dancers, shown in Rock art, are divided into two categories solo and group dancers. The representations of solo dancers are less in number in the rock-paintings. In the earliest series, it is very difficult to differentiate between the male and the female figures as the figures are asexual. The possibility seems to be that the earliest painters had no idea as to how to represent the different sexes. Only in the late series, it has been found that the females' figures are represented by showing their breasts.

## Dancing Position and Gestures

The dance was the community activity in prehistoric times to get happiness or show joy. There was no such kind of particular dance form found in rock art. Joining and connecting hands dancing style is very common in Indian rock-paintings. Almost all the areas, with few exceptions, have yielded this type of paintings. Gordon has also published a group of hand-in-hand dancers from Kabarapahar. The buds of the dancers are filled with cross-hatched lines. He also described the dancer from Bori rock-shelters, Hoshangabad in his other paper. The number of dancers is four. The last human figure has faded and is not easy to reconstruct it. The body of all the dancers is in conical shape is thin at the waist to which are attached fillets, which are swimming in the air.

The dancers with joining hands' are found at Kabarapahar, Abchand, Putalikarar, Raisen, Kharwai, Bhopal, Berkheda, and Pachmarhi, Mirzapur, Modi, Raigarh (Chambal valley) caves. They cover almost all the series except the first one. It means that dancing in that form started with the stick-shaped style and continued up to the last series. In the Baniaberi rock-shelter at Pachmarhi, there are female hand-in-hand dancers. Generally, there are seven dancers, though occasionally six or eight. It is worth

mentioning here that in Bastar (Chhattisgarh), the dance of this nature is practiced even today and is participated in by both the sexes. In this dance, the participants join their hands and form one or two rows, and then to the beating of drums *(mridanga)* they start dancing. Gradually the drum-beats increase in rhythm and so does the dancing tempo. The use of intoxicating liquid helps the dancers to continue the dance even for the whole night. Some figures are found as mask wearer in dancing form. These figures are very much similar patterns of bushman's of South Africa. In Dorothi Deep (Pachmarhi) caves, a pair of a dancer having the mask of an animal, and the other wore a monkey mask on his face. Probably it was the type of farce of that society.

## Musical Instruments

Music is incomplete without instruments. In prehistoric times, when the man has lots of time to create or recreate himself, he invented some musical instruments which has no complexity. The results of that, he took some simple things, like wood, stone, or horns of the animals, to generate soothing sound for him. We get different types of sounding instruments, like drums *(dholak/ nagada), damroo,* flute, sitar, *algoja*, clarion, long rods like tongs, etc. from these painted areas. Many other unacquainted musical instruments are also depicted in rock art. Mostly the figures are found in dancing and moving postures. It seems that the drum (*dholaka*) was a common type of musical instrument available to the pre-historic people. It is even popular in our days, at least in northern India and it is generally found in the houses. The reason may be that it is cheap and easily available, and it has mot requires to have special skills to play. The other types of musical instrument were commonly used in the rock-paintings are flutes and horn bugles. Kushana terracotta also indicate that type of musical instruments. In two cases we get a double fluted instrument to know as *algoja*. This is available from Dorothi deep and Jambudvip rock-shelters. Two clarions (*turhi*) playing warriors are depicted at the Nimbuboja rock shelter. This instrument was generally used at the time of war. A rectangular drum (*daphali*) is drawn in the Siddha Baba shelter at Naryavoli.

In the development sequence, the pre-historic man not only

gave importance to his way of living and security and possibilities, along with it, a man also gave his merriment to life. For this reason, he not only adopted dance and music but also carried it forward with collectivity, which is confirmed through rock paintings. It was also reflective of his mental and ideological progress.

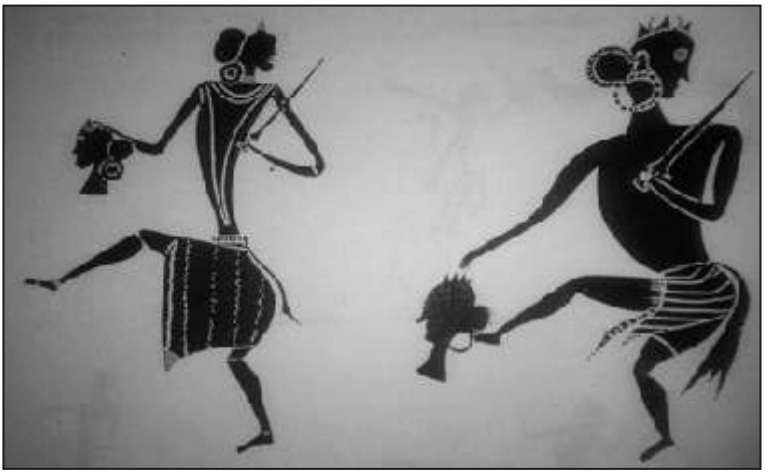

Dancing figure from Agamdwar and Kites Crag (Mahadeo Hills)

Depiction of *Veena* Player near Pattadkal

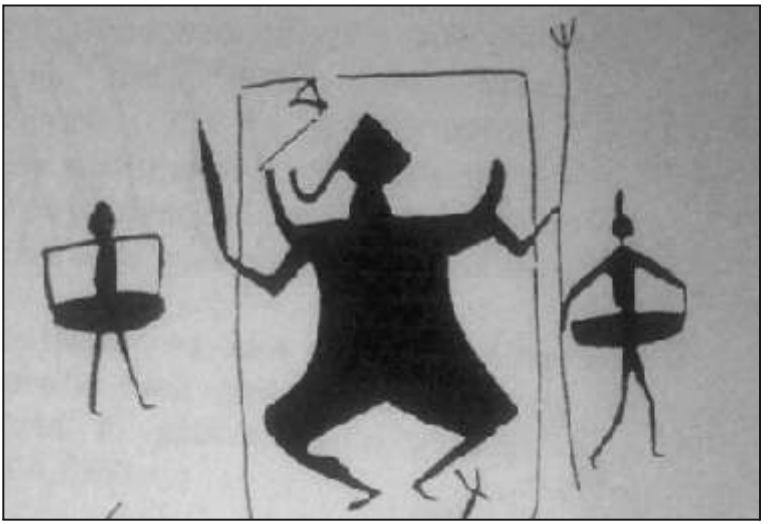

Depiction of Drum Player in Bhimbetka

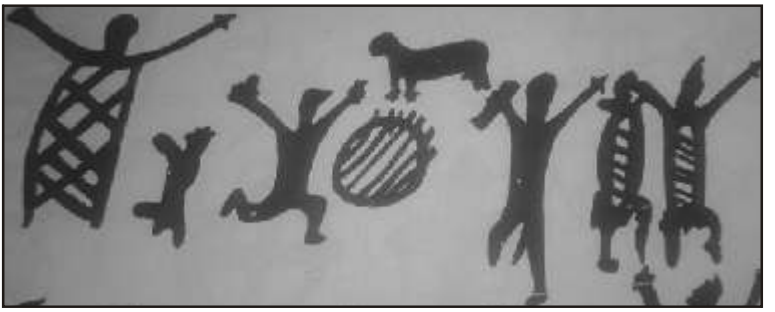

Depiction of Dancers in Raisen Shelters

Coursty : All four images used in this research paper are excerpted from Erwin Neumayer's book entitled Lines on Stone: The Prehistoric Rock Art of India, Manohar Publication, Delhi, 1993.

**References**

1. V.H. Bedekar, 'Indian Rock Shelter Paintings: Their Significance', *Rock Art in India*, 1984

2. K.D. Bajpai, 'Rock Shelters: Literary and Epigraphical Evidence', *Rock Art of India*, Bhopal, 1984.

3. N. Chaturvedi, Bharat ke kala Mandap, *Sammelan Patrika*, 1958.

4. Jagdish Gupta, *Pragaitihasik Bhartiya Chitrkala,* National Publishing House, Delhi, 1987.

5. J.P. Gupta, *Bhartiya Kala ke pad Chinha*, Delhi, 1961.

6. E. Neumayer, *Pre Historic Indian Rock Paintings*, Oxford University Press, Delhi, 1983.

7. M.C. Burkitt, *South Africa's Past in Stone and Paint*, Cambridge University Press, U.K., 1928

8. D.H. Gorden, 'The Rock Engravings of the Middle Indus', *Journal Royal Asiatic society of Bengal*, Letters V-VII, Article Number 7, 1941.

**Virendra Sharma**
Assistant Professor,
Government Girls' College
Ajmer

❑❑❑

# Role of Archival Sources In The Reconstruction of the Economic History of Bikaner State : With Special Reference to *'OON Re LUNKARA Ri BAHI'*

**(LATER EIGHTEENTH CENTURY)**

• **Dr. Rajender Kumar**

Rajasthan state archives is a treasure house of archival material. Innumerable *bahis* of Bikaner state are preserved in it. One such *bahi* is **Oon re Lunkara ri Bahi** which contains information on wool production and its trade belongs to year VS 1844/1787 AD written in *mudia* script of Rajasthani. The subject of it becomes clear from the title of the *bahi*. The word *lunkar* used in this ledger book is referred for a thick woollen of single colour for covering the body. The embroidery was made on it to look attractive. These scarves (*lunkars*) were of single colour as white, black and red but some pieces have border of different colours. These scarves were made in large quantity in Bikaner state and very popular among rural as well as urban folk. These articles were made of various qualities. Ordinary items made of raw wool for the common folk while fine wool scarves were for the rich and the members of the nobility which is corroborated by the evidence contained in other *bahis* of the state namely *Sawa Bahi, Jagat Bahi* and the *Jama kharch Bahi* of the state.

The *bahi* offers information on various aspects given below :

**Wool Producing Castes Or Groups**

This document furnishes detailed information about the

involvement of various castes in producing wool in rural as well as urban areas of the state. These were Rebari, Bhambhi, Raigar, Khatik and Auli, who used to rear sheep to obtain wool for making scarves. We also come across a few instances of involvement of high caste people like Rajput and Brahmins in this profession. Moreover, engagement of the other castes - Chand and Meghwal is also reported by the *bahi*. Though, this sector was largely male dominated but references of women engagement is also coming to us. Two examples can be cited for it. One woman of the caste Meghwal of village Surdhana sold two *Lunkar Than* to Kadei Dasani. Similarly, a woman of same caste belonged to Bikaner City sold two *Lunkar Than* (a fixed measured piece of woolen cloth) to Chaina Kothari- a trader. Apparently they themselves had woven these scarves. Numerous examples are found in the *bahi*, which confirm the importance of the wool production.

## Wool Production Sector

In Bikaner state, the production of wool was done at a large scale in the 18th century and the main source of income for the people involved in it. A section of the people of almost every village is engaged in it. Names of innumerable villages under the *chiras* of Magra, Surpura and Lunkaransar are mentioned in this *bahi.* Apart from this, villagers of Suratgarh, Churu, and Rajgarh were engaged in sheep rearing and scarf making.

## Taxation

A detailed account of the transactions of *Lunkar* and blankets is available in the *bahi*. The state received *jagat* on each transactions. Thirty seven *dams* were collected as a *jagat* on each *Lunkar Than* and 1 *taka* 25 *dams* on a blanket *than*.[8] On these woolen products, occasional discounts were also granted by the government. Many instances of the discount in the *bahi* are available. For example, the Brahmins who did the work as *bichhayat* traders bought two *Lunkar Than*, on which 1 *taka* imposed by government and the discount of 25 *dam* was sanctioned.[9] This *bahi* records the account of 6 months for 1787 AD of *jagat* realization from the *Lunkaras* and blankets in the Bikaner state, from which the fluctuations in the *jagat* can be understood as well.

## Involvement of Merchants in Wool Trade

This *bahi* gives information on the merchandise traders, who were trading wool and wool products in the latter part of the 18th century. After a thorough analysis of this *bahi*, traders referred to here can mainly be divided into three parts : wholesalers, retailers and brokers etc.

## 1. Wholesaler Merchants

On the basis of the *bahi*, it can be said that many wholesale traders were engaged in the trading of raw wool and woolen goods in Bikaner city and adjoining towns. There are two categories of wholesale traders, such as Local wholesalers and Regional wholesalers. Local wholesalers used to conduct business transactions within the state, as mentioned below-

### (i) Local wholesaler

From this *bahi*, we get information about local wholesale traders associated with wool trade of Bikaner State. According to which Lachhiram Lohia, Dalla Khandelwal, Dhanroop Surana, Vishnu Khatri, Prithvi Kothari, Nihalchand Pugalia, Motiram Dammani, Radheshyam Binnani, Roopa Sawalsukha, Shambhu Sipani, Chaina Kothari, Rau Dasani, Andu Lalani, Chand Sadani, Anupchand Golcha, Viradhi Chand Bhura, Jetharam Bhoora, Guman Sindhi, Girdhari Surana, Vardhman Banthia, Gulab Parakh, Bagasiram Banthia and Santokh Chopra etc. were the main local wholesalers who played an important role in increasing local wool trade. These traders were especially associated with trade of wool. Innumerable references about their trading activities are available in the *bahi*.

### (ii) Regional wholesaler

The *bahi* also contains information about non- Bikaneri traders who used to buy wool after staying in the city. Among them were Khushali Ram Nagauri, Jethu Nagauri, Meethu Didwaniya and Manak Ram Didwaniya etc. These merchants used to sale Bikaneri wool scarves and other products in Jaipur, Didwana and Bikaner itself.

## 2. Retail Merchants

In the erstwhile Bikaner state, retail traders also had an important role in the wool trade. They used to buy goods from the markets (*mandis*) or the regional wholesale traders or local wholesale traders. This group is divided into two parts mentioned as below:

### (i) Shopkeepers

The important facts about their business activities are highlighted by the *bahi*. Details of the major shopkeepers (retailers) of about two dozen villages of Bikaner State are mentioned in the following table :

**Table-1**

**Retail (Vendor) merchants of major wool producing areas of Bikaner State[10]**

| Sr. Nos. | Name of Village | Name of Local Shopkeepers |
|---|---|---|
| 1. | Udairamsar | Jayachand Surana |
| 2. | Beethnok | Hardev Garg, Jayaram Rathi, Hariji Hirawat |
| 3. | Naal Gaon | Paramananda Pugalia, Ladhu Sethi, Hema Gulgulaya, Kheto Gulgulaya, Jassu Chhajer, Sawant Sethia, Hathyo Lalani, Lachhiram Rathi |
| 4. | Jalalsar | Mulla Duggad, Bhau Duggad |
| 5. | Napasar | Jaggu Mundhra, Guman Mundhra, Seth Jairam, Khetram Mohta, Radhakisan Rathi, Bakhta Chhajer, Nathu Mohta |
| 6. | Gajner | Pohkar Bhattar |

| Sr. Nos. | Name of Village | Name of Local Shopkeepers |
|---|---|---|
| 7. | Kolasar | Mula Mohta |
| 8. | Bholasar | Anda Daga, Balkishan Lohiya, Sagat Seth, Veer Rathi, Mula Baid |
| 9. | Magra | Magan Pugaliya, Dhanna Parakh |
| 10. | Dulchasar | Hardev Bhattar, Jayakishan Mundhra, Ramkishan Murdhaniya |
| 11. | Janglu | Ajay Parakh, Sardar Parakh, Raju Seth |

In addition to the above mentioned shopkeepers, the names of numerous other shopkeepers are also mentioned in the *bahi*.

### (ii) Bichhayat

The other category of retailers was *bichhayat*[11] merchants. The *Bahi* provides information about the *bichhayat* traders of Bikaner state. In this category of merchants, lower caste dominates. For example, Chand Hiryo (*bichhayat*) of village Shriramsar had sold one *lunkar than* to the merchant Sarang Binani.[12] At other place, the wholesale trader, Dalla Khandelwal, had purchased two *lunkar than* from a Meghwal of Bikaner city.[13] It is evident from this that some *bichhayat* traders also used to buy and sell woolen products in large numbers. This shows their deep involvement in this trade.

It is known from this *bahi* that the *bichhayat* kind of trading in Bikaner was done by people of all castes and religions. Brahmin, Khatri, Kumhar, Rajput and Muslims etc.[14] For example, *Bichhayat* Khatri purchased the 4 *lunkar than* from Chand Minya, the producer of village Shriramsar.[15] In another case, the Brahmin (*Bichhayat*) sold 2 *lunkar than* to the merchant Jetha Bhura of village of Kotri.[16] Therefore, it is clear that every section of the society was associated with the *bichhayat* trade.

## 3. Broker Group

The *bahi* also provides detailed information about the brokers, who were involved in broking among the wool traders in the state of Bikaner. Some brokers are mentioned in the following list –

## Table 2

**The wool brokers in the state of Bikaner during the later 18th century[17]**

| Sr. Nos. | Name of Brokers | Affiliate brokerage area |
|---|---|---|
| 1. | Bhawani Das Lalani | Udairamsar, Gigasar, Rasisar, Surdhana, Sinthal, Kanhasar, Gata, Ridmalsar etc. |
| 2. | Mulo Lalani | Surdhana, Khara, Chahni, Kuchor, Dulchasar, Napasar, Belassar, Sinthal, Jalalsar, Husangsar etc. |
| 3. | Chiman Gidiyo | Akkasar, Jaimalsar, Gata, Punpalsar, Bithnok, Surdhana, Jalalsar etc. |
| 4. | Aaso Baid | Gajner, Salasar, Bhairu, Pithrasar, Kotri, Kihoni, Sujasar etc. |
| 5. | Santokh Surana | Janglu, Surdhana, Nal, Jhajjhu, Napasar, Jalalsar and Magra etc. |
| 6. | Bhawani Surana | Bholasar, Napasar, Kuchor, Deshnok etc. |

The above listed brokers engaged in this profession in many villages in addition to the areas mentioned in the list. Moreover, other important brokers were Jasnath Surana[18], Jeevan Baid[19], Chiman Pugalia[20] and Kanha Surana[21] broking in wool and woolen products with Nal, Punpalsar, Bithnok and Janglu-Jalalasar.

The importance of the *Oon re Lunkara ri Bahi* comes to light from the foregoing study. It provides valuable evidence about the wool production and its trade. It also throws light on the financial condition of Bikaner state in the latter part of the 18th century. However, this is a tentative study but highlighting the significance

of the *bahi* for the wool production, its trade and the involvement of various caste groups in it.

## References


1. Sitaram Lalas, *Rajasthani Sabad Kosh*, Volume-4, First edition, 1973, p. 4414
2. *Sanad Parwana Bahi*, No. 25, VS 1838/1781 AD. *miti asadh vadi* 14; *Sanad Parwana Bahi*, No. 30, VS 1841/1784 AD, *miti asadh sudi* 4, Jodhpur Records, Rajasthan State Archives, Bikaner
3. *Sawa Bahi*, No. 3, VS 1805/1748 AD; *Sawa Bahi,* No. 4, VS 1807-10/1750-53 AD, Bikaner Records, R.S.A.B.
4. *Oon re Lunkara ri Bahi*, No. 53, VS 1844/1787AD, *miti asadh vadi* 7, Bikaner Records
5. Ibid., *miti asadh sudi* 14
6. Ibid., *miti jyestha sudi* 10
7. Ibid., *miti jyestha sudi* 10, 12
8. Rajender Kumar, 'Atharahavi Sadi ke Uttrarddh mein Bikaner Rajya mein Kar Vyavastha (Oon Vyapar ke Sandarbh mein)', *Virasat- Shod Patrika,*Vol.-4, January- 2017, History & Cultural Department, J.R.N. Rajasthan Vidyapeeth Vishvavidyalaya, Udaipur, pp. 41-42.
9. Ibid., *miti asadh vadi* 6
10. This table is prepared on the basis of information obtained from *Oon re Lunkara ri Bahi*.
11. Those traders used to sell their products and articles by stalking the road or by sitting on the sidewalk.
12. *Oon re Lunkara…*, *miti asadh vadi* 10-11.
13. Ibid., *miti asadh sudi* 11
14. Ibid., *miti asadh vadi* 6, 8, 12, 13 *ashwin sudi* 5, 10, 12 *bhadrapad sudi*, 10
15. Ibid., *miti asadh vadi* 13
16. Ibid., *miti asadh vadi* 6
17. This table is prepared with the help of information obtained from *Oon re Lunkara ri Bahi*.
18. Ibid., *miti asadh sudi* 5
19. Ibid., *miti asadh vadi* 4
20. Ibid., *miti kartik vadi* 7
21. Ibid., *miti kartik vadi* 7, 8



**Dr. Rajender Kumar**

Post Doctoral Fellow,

Indian Council of Historical Research, New Delhi.


❑❑❑

# A Study of Water Structures and Their Use in *Qasba* Chaksu

## (Seventeenth–Nineteenth Centuries)

• **Dr. Jibraeil**

Chaksu, a place of great antiquity is situated about forty two kms. south of Jaipur becomes clear from the remains of many ancient buildings and water structures such as; temples, *mathas* associated with water-bodies, and a pillar of ancient gate of a wall.[1] It was existed in the 6th century, A.D.[2] Its early name was Champavati corroborated from the literary and inscriptional evidence from which Chatsu appears to have derived its name.[3] In *Arhsatta* its name is used as Chatsu, for which valuable information regarding revenue is available (see Map-1).[4]

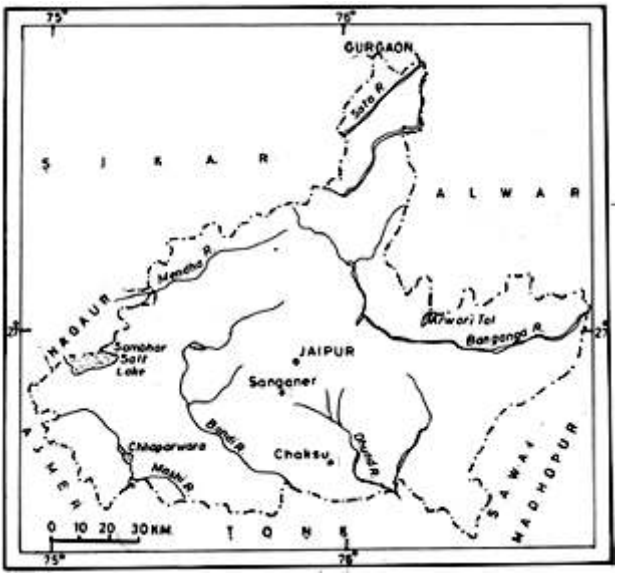


Map-1

An attempt has been made in this paper to conduct the physical survey of the said *qasba* based on the records. My main concern is about the methods adopted by people of area for water harvesting and its utilization for irrigation. It would also be investigated about the crops which were being raised by the peasants. For which I have consulted the *arhsatta* (revenue record) which contains valuable information[5]. Moreover, the following information is also obtained from the local people about the locality:

**(A) North of the Town**

(i) Shiv Temple constructed by Rana Sanga on Shiv Dungari and a big *talab* (tank) called as Shiv Dungari ka Talab.[6]

(ii) Shitala Mata Temple near Shiv Dungari talab

(iii) Lakha Gaon and Lakhas Bandha

**(B) East of the Town**

(i) Surya kund Pillar

(ii) Manohar Taal

**(C) Centre of the Town**

(i) Neelkanth's Shiv and Hanuman Temples

(ii) Chaturbhuj and Lakshminath Temples

(iii) Govardhannath and Radhavallabh Temples

**(D) South of the Town**

(i) Many Temples

(ii) Shrine (*dargah*) of Shah Jalal

(iii) Sitaram Temple near Aasolai sthal

(iv) Jogabari

**(E) West of the Town**

(i) GuhilraoTaal

(ii) Hanuman Ghat in the north and on the bank of GohilraoTaal

(iii) Jangjeet Mahadev Temple, Vishnu Temple, etc.

**(F) Other Structures Within the Boundary Wall of the Town**

(i) Many wells, step wells, *kunds* and *kundis* are situated inside the town. Most of them are not in operation due to its bad condition.

(ii) The city had four gates, one of them known as Kot Darwaza, has alone survived on the south side.[7]

As already, I have discussed above that many scholars and archaeologists have done work on monuments particularly temples of the town. Except S.P. Gupta[8] and Dilbagh Singh[9], no one has done work on the agricultural production of *qasba* Chaksu on the basis of *arhsatta* record. Extensive survey of the area was conducted and to know about the methods of rain harvesting and to the agricultural production. Therefore, an attempt is made to highlight the economy of the town particularly explaining herewith about three water-bodies i.e. Guhilrao Talab, Manohar Taal and Shiv Dungari Talab.

**(1) GuhilraoTalab**

It is very big *talab* constructed by Guhil ruler[10] and presently known as Gulirao talab (see Fig-1(a&b). In 6th century, it was declared as a Pushkar (sacred tank) of the town and continued to enjoy this status for many years.[11] This tank has been surveyed in the month of May, 2019 when it was waterless.[12] This water body is situated to the west of the town Chaksu. The structure is surrounded by many ancient and new temples including that of Radha Damodarji, Hanumanji, Bamanji, and Shivji, etc.[13] A small Shiva temple is situated in the tank and its remains submerged in the water. [14](see fig-2). A cenotaph (*chhatri*) is located in the east and on the bank of the tank called as *Gurg Ali Khan Chhatri*[15].

The main catchment area of this tank is in south-west. This tank is more than 21 feet deep and its measurement from north to south is 350 mts and east to west is 400 mts. It is evident that the people were involved to store rain in the tank and its water was being used for irrigation, particularly towards its *agor* in west and south-west sides (See Fig.3).This Guhilrao tank is the best example of the rain harvesting since ancient times to till date. The stored water of this tank was being used for the raising of cereals and grains i.e. *kharif: bajra, jowar, moth, urd, kodon, chola, sugarcane, cotton and makka; rabi*: wheat, barley, gram and vegetables. Now the land is occupied for the construction of houses due to population pressure[16]. Few water bodies were constructed in the catchment's area of tank which was being used for irrigation by the peasants for producing different kinds of grains[17]. It is said that primarily Guhilrao talab was only source of water for drinking as

well as irrigation in Chaksu region. Besides, this tank has religious importance too for the residents. Following structures are associated with Guhilrao talab:

**(A) North of the Tank**

(i) Temple

(ii) Mosques

(iii) Gaughat

**(B) East of the Tank**

(i) Cenotaph (*Chhatri*)

(ii) Temple

(iii) Gaughat

**(C) South of the Tank**

(i) Cenotaph (*Chhatri*)

(ii) Temple

**(D) West of the Tank**

(i) Catchment's Area: The area for rain water collection as well as agricultural production.

(ii) Few water structures were constructed in the direction of catchment's area which has now been abandoned and not in operation.

Fig-1 (a) : GuhilraoTalab, Chaksu

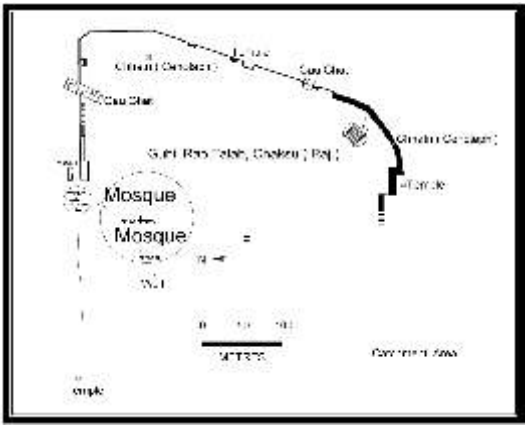


Fig-1 (b) : Ground Plan of Guhilrao Talab
(Prepared by Mr. Zamir Ahmad, TA/Draftsman,
Archaeology, Department of History, AMU, Aligarh)

Fig-2 : Shiva temple inside the Guhilrao Talab, Chaksu

Fig-3 : Cultivated Field close to Guhilrao Talab, Chaksu

**(2) ManoharTalab**

It is also a big *talab* locally called it as Mandogara Taal. It has full of water in the west side deepest part of the tank[18](see fig. 4 (a&b). According to a temple's *mahant,* the area of this tank is about 76 *bighas.* It is evident that the overflow of the tank was being used by the peasants through storing water in their wells or *baoris.*[19] An inlet was situated in the south of the tank which was some time being used as an outlet, particularly during the overflow of the water[20]. There are two big embankments in the west and the

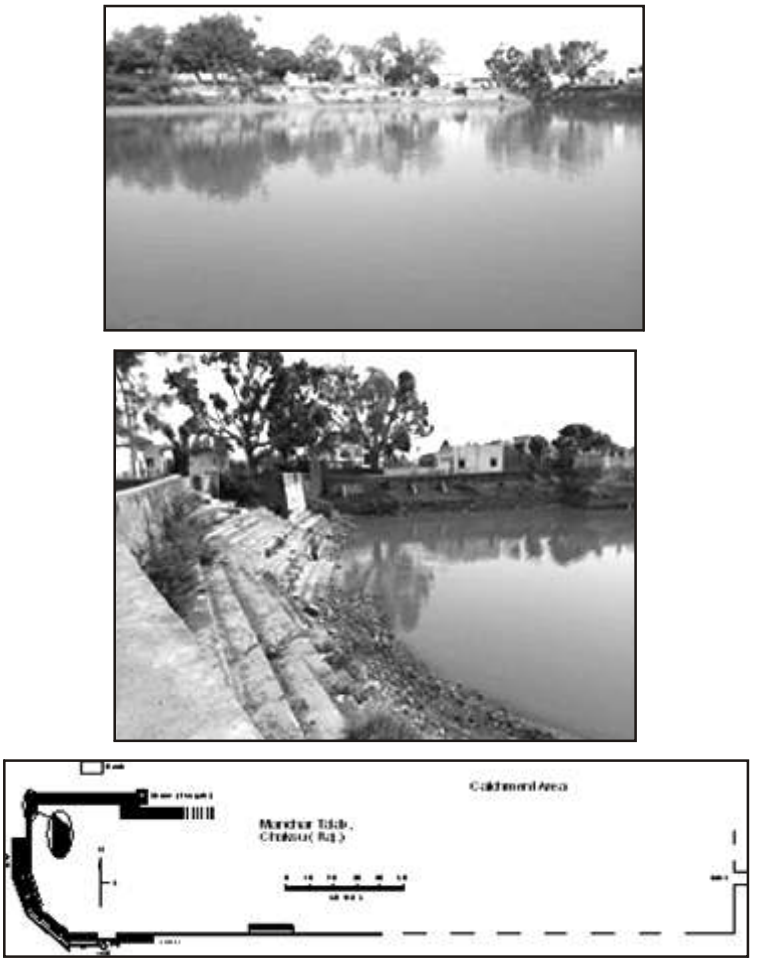

Fig-4: Manohar Talab with Ground Plan, Chaksu

north of the *talab* with many stairs leading towards the tank. This *taal* is more than 40 feet deep in the west and its measurement from north to south is 200 mts and east to west is 600 mts. As Guhilrao talab, Manohar talab was also used for irrigation, particularly towards its *agor* in the east and north-east sides.

Fig-5: A well and a *baori* with *Ghats* of Manohar Talab, Chaksu

The stored water of Manohar tank was being used for the producing the various kinds of grains in the vicinity of *talab*. But now numerous houses have been constructed. Still there is few water structures located in the farm houses of the peasants. Following are the examples :

**(a) Brahmano Ki Baori :** It is a *charas* operated step-well (*baori*) located in the north-east to Manohar talab. According to a headman, it is still in operation and being used for irrigating about 25 *bighas* land to produce wheat and vegetables[21](see fig. 6).

(1) Brahmano Ki Baori

(2) Well of the Step-Well

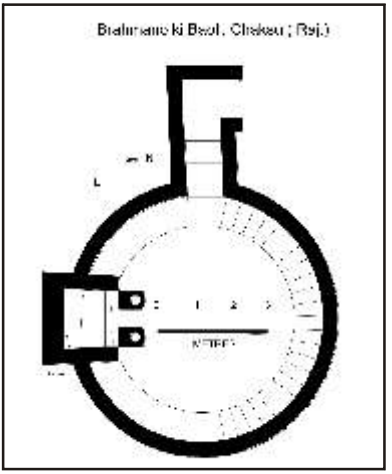

Fig-6 Ground Plan of Brahmano Ki Baori, Chaksu

**(b) Maliyon Ki Baori :** This *baori* is located in the vicinity of Manohar talab is owned by a person of *mali* caste. Formerly it was being used, particularly for drinking and producing vegetables.[22] Another *baori* owned by the person of same caste is located outside the house just north of the tank for irrigating the big areas producing variety of grains, flowers and vegetables.[23]

Following structures are associated with Manohar Talab :

**(E) North of the Tank**

(i) Shrine (Mosque)

(ii) Two Big Wells near Shrine

(iii) Shiva Temple

(iv) A *Baori* near Shiva Temple

(v) **North-West of Tank**

(i) Banjaron Ki Chhatri

(ii) Chauth mata Temple

(iii) Laddu gopal Temple

(iv) Hanuman Temple

(vi) **East of the Tank :** Catchment's area

(vii) **South of the Tank**

(i) Ganesh puri Temple

(ii) Champeshwar Temple

(viii) **South-West of the Tank**

(i) Place of a Peer

(ix) **West of the Tank**

(i) Bahetiyon (Maheshwari) Ka Temple

(ii) Place/Dham of Tejaji Maharaj

(iii) Oswal Chhatri

(iv) Dadu Dayal Ki Chhatri

## (3) Shiv Dungari kaTalab

A fortified temple is crowned on a hill called Shiv Dungari two miles north of qasba chaksu[24]. Though the entire temple is

modern construction but old pieces of sculpture are fixed on the walls. Near Shiv Dungari hill, there is a big tank called Shitala mata Shiva Dungari ka Talab (see fig. 7 (a&b). It is more than 30 feet deep in general and from north to south is about one kms and east to west is approximately one and half kms. But during rainy season its size is expanded. Water is mainly comes from north and entering into the tank through a big inlet located in the north of the Shiv Dungari talab[25]. Sometimes, particularly in rainy season, water also comes from Chaksu (south) into the tank but at the same time water gushes back to Chaksu when the tank is full beyond the capacity. According to an eye witness Shri Kalyanji (more than 75 years old farmer), this tank is more than 500 years old and contains two stone outlets. Earlier both outlets were unlined and used for irrigation[26]. An outlet is covered and situated in the south embankment of the tank (see fig. 8 (a), locally called as "Nahar Ki Mori". This outlet was opened for agriculture by any person deputed by the Tehsil while previously it was always remained open and being used for the same purpose. Another outlet is big and open, located in the east of the tank (fig. 8(b), [27] locally called as "Pani Ke Nikalne Ka Ugal" like a Dam[28].

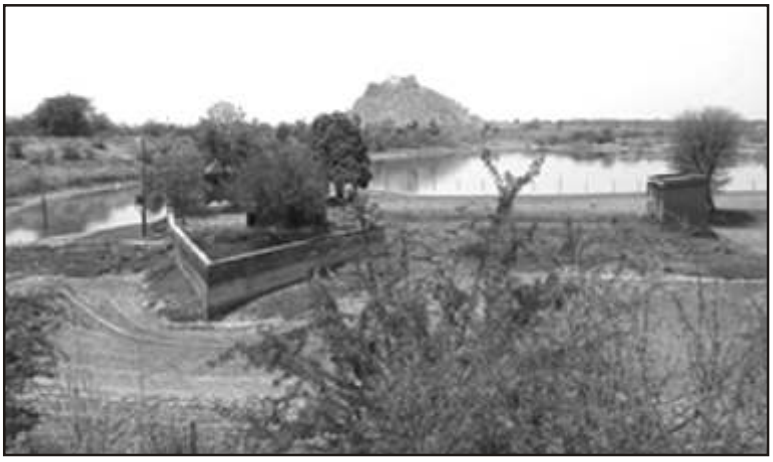

Fig-7 (a): Shiv Dungari Talab with Temple on a Hill, Chaksu

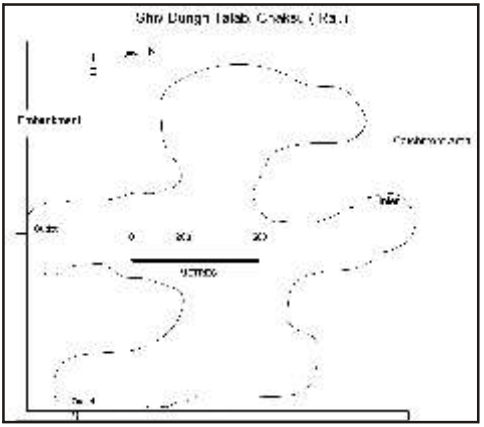

Fig-7 (b) : Ground Plan of Shiv Dungari Talab, Chaksu

1 (a)

1 (b)

2 (a)

1 (a&b) : Covered outlet, Shiv Dungari;

2 (b)

2 (a&b) : Open outlet, Shiv Dungari

Fig. 8 (a&b): Two outlets of Shiv Dungari Talab, Chaksu

In our survey of Chaksu, we found at least one well or one *baori* in the agricultural field adjacent to Manohar talab[29].The agriculturists of Chaksu were growing various kinds of grains and vegetables such as *jau, gehoon, kakri, bhindi, palak, madir* (*tarbooz*)[30], etc. Similarly water of Shiv Dungari tank was also being used for the producing wheat and vegetables[31]. In the *arhsatta* document immense information is available regarding the agricultural production.[32]

Foregoing survey shows the level of consciousness among the local people about the rain harvesting and its maximum use for domestic as well as irrigation purposes.

## References

1. In 1871-72, Mr. Carlleyle (Carlyle) discovered an undated stone inscription which was edited by D.R. Bhandarkar in the *EpigraphiaIndica*, Vol. XII, pp. 13 *Seq*. This documents records the construction of a temple of Murari-Vishnu, by Baladitya, a Guhila prince, to commemorate his wedding to a Chahmana princes. This stone was built into the side wall of the steps leading down into the great tank of Guhil Rao to the west of the town of Chatsu. See Rai Bahadur Daya Ram Sahni, *Excavations at Bairat*, Publications Scheme, Jaipur, rpt. 1999, pp. 9-10. Also see Daya Ram Sahni, *Archaeological Remains and Excavations at Bairat,* p.5
2. K.C.Jain, *Ancient Cities and Towns of Rajasthan*, Motilal Banarsidass, Delhi, 1972, pp. 203-04.
3. According to local traditions, this place was originally called Tambavatinagara. Next, it was called *Pahhpavati*, after the name of its ruler Pahopa. Actually these names are not verified from literary and epigraphical sources.
4. In *arhsatta* its name is used as Chaksu. See *Arhsatta pargana* Chaksu, Bundle No. 62, VS. 1830/AD. 1773, records are available in Rajasthan State Archives, Bikaner (It is also has been uploaded on RSA Website).
5. I have consulted *arhsatta pargana* Chaksu, V.S. 1780/ AD. 1723; VS. 1827/ AD 1770; and VS.1830/AD.1773, R.S.A., Bikaner.

6. Physical Survey of the sites with the help of locals and conducted Interviews. Mr. Zamir Ahmad (Draftsman, Archaeology, Department of History, AMU, Aligarh) assisted me to prepare the ground plan of *talab* of *qasba* Chaksu. I am grateful to Mr. Sohan Lal Mishra, a retired teacher who explained us about the *qasba* and gifted a book entitled *Vastavik Vikramaditya va Bharthari Ki Mool Janmsthali Champavati Nagari Chaksu*, written by him in 2018.
7. Rai Bahadur Daya Ram Sahni, *Excavations at Bairat*, op. cit., p. 10. According to another work total numbers of gates were five, and none is in good condition. See Sohanlal Mishra, *Vastavik Vikramaditya va Bharthari Ki Mool Janmsthali Champavati Nagari Chaksu,* Sahityagar, Jaipur, 2018, pp. 20-22.
8. S.P. Gupta, *The Agrarian System of Eastern Rajasthan*, Manohar, New Delhi, 1986.
9. Dilbagh Singh, *State Landlords and Peasants*: *Rajasthan in the 18th Century,* Manohar Publication, New Delhi, 1990; and, 'The Pattern of Agricultural Production in the *Qasbas* of Chatsu and Malarna (C. 1709-1770)', *PIHC*, 1975.
10. Rai Bahadur Daya Ram Sahni, Excavations, op. cit., pp. 102.
11. Ibid.
12. Physical Survey of the site. [In Rajasthan generally we found *talabs* and *talais*. *Talab*, basically is a popular word and used locally for water reservoirs situated in valleys and natural depressions. The underground water-table depends on the amount of rainfall and the presence of surface water (river and *nallahs*). Besides, rivers and *nallahs*, tanks (*talabs*) also contribute in raising the sub-soil water level near the surface. Thus, percolation of water from the above means and the sponging of the rainfall enlarged the underground water reservoirs. It is very interesting to note that the archaeological survey reports and the gazetteers attest to the existence of at least one tank in most of the villages of Rajasthan. It is believed that many of them were used for irrigation].
13. *Rajasthan District Gazetteers,* (ed.) Savitri Gupta, op. cit., p.896.
14. Ibid.[ A six armed figure of Durga, a well carved figure of Ganapati and a Budha head were also lying scattered about the *ghats*

around the great tanks]. For more details see Daya Ram Sahni, *Archaeological Remains and Excavations at Bairat*, op. cit., p.5.

15. Physical Survey of the site. [According to the work of Yaqub Ali Khan, the *chhatri* is of Gurg Ali Shah, who died in 1569 AD. He also explained that there are two inscriptions, one is recording the date of his martyrdom and other is a visitor's memento. Though it is not exactly known when Chatsu first came to be occupied by the Muslims, but it may have an early date that the region around it was occupied by the Tughlaqs is testifies. Babur also mentioned it among his possessions in India]. For details see Yaqub Ali Khan, *Muslim Monuments of Rajasthan*, B.R. Publishing Corporation, Delhi, 2011, pp.59-60. We could not see the inscription during our survey in 2019. It means either it has been lost its original place or shifted to other place. It is matter of further investigation.
16. Physical Survey of the site.
17. Ibid
18. Ibid
19. Ibid
20. Ibid
21. Ibid
22. Ibid
23. Ibid [It is interesting to note that the *arhsatta* of Chaksu is also giving immense information regarding the production of various kinds of grains and cereals]
24. *Rajasthan District Gazetteers,* (ed.) Savitri Gupta, op. cit., pp. 896-897. [ Rai Bahadur Dayaram Sahni mentioned in his book about the direction and situation of Shiv Dungari in west of the Chaksu, which is wrong because our survey team verified it and found in the north of Chaksu, on Jaipur-Tonk Road].
25. In our survey we have collected an information regarding source of water of the Shiv Dungari Talab. According to an old man (later on verified in an interview in Sanganer), the non-purified and waste water of the factories of Sanganer coming to the tank through a long canal connecting to it while distance of it is about 40 kms. They also explained that water of Sanganer firsty falling into Chandalai dam (in Sodaspur) then to the Shiv Dungari tank.

Due to this water the percentage of production day by day (agriculture) continuously decreases in Chaksu region.

26. Conducted Physical Survey and Interview at the site.
27. Ibid.
28. Ibid.
29. Physical Survey of the site.
30. Physical Survey. Also see S.P. Gupta, *The Agrarian System of Eastern Rajasthan*, op. cit., (A Chapter on Agricultural Production); Dilbagh Singh, *State Landlords and Peasants: Rajasthan in the 18th Century*, op. cit.; Dilbagh Singh, 'The Pattern of Agricultural Production in the *Qasbas* of Chatsu and Malarna (C. 1709-1770)', *PIHC*, 1975.
31. Ibid.
32. Different years of *arhsatta pargana* Chaksu, available in RSA, Bikaner and also on Archive Web. Also see a chapter on 'Agricultural Production' in S.P. Gupta's book entitled *The Agrarian System of Eastern Rajasthan*, op.cit.

**Dr. Jibraeil**
Assistant Professor,
CAS, Deptt. Of History,
AMU, Aligarh (U.P.)

❑❑❑

# Variegated Conflicts in the Endogenous World of Charans

• **Tripti Deo**

The world of Charans of Rajasthan is generally perceived within the categories of court poets, genealogists and most often in the common jargon as bards of Rajasthan. It is quite evident that they are known for their contribution as literary writers and composers of several writings (both in prose and verse forms) like the *khyat, vigat vamsavalis, pidhiavali vachanika, geet, bat, duhas, raso* etc. They were among the elite circles of their Rajput chiefs who patronized them by giving them prestigious positions in their court, honoring them with gifts of land grants *(sasan and dohli)*, robes of honour and titles (Barhat), gifts in cash and kind, also gave them horses, elephants. Moreover they were allowed to collect gifts (*neg)* during marriages in the Rajput household and enjoyed many more privileges that a common man could only dream of.

This paper however discusses the other side of Charan's lives that were more endogenous, variegated, complex, mundane, lives of ordinary Charans who may or may not be genealogists or poets of any Rajput chief. They were involved in many other vocations for their subsistence and grappled when their rights or dues were transgressed. Like any other caste, they too reached out to the state authorities for redressal of their disputes. It is significant to mull over their lives as the composition of this class of Charans was quite substantial in Rajasthan. The Jodhpur state received innumerable petitions[1] from them, who were engulfed in many conflicting and contesting issues of daily lives, with the members of their own caste and also with the members of the other castes of the region.

## Nature of Disputes among Charans

A large number of disputes related to the *kachedi* records suggests that matters related to property were frequently contested. Rule of primogeniture did not apply to Charans therefore property was equally divided among all the sons *(charaniyabant)* i.e. the land was divided equally, generations after generations. This is the reason there were scores of instances related to proprietary rights reported by Charans at various *kachedis* of Jodhpur state. The enormity of these grievances made Maharaja Mansingh and Takhatsingh of Jodhpur to establish a separate court named *Khatdarshan,* which exclusively dealt with cases of property disputes among the Charans.[2] Furthermore, there were also quite a number of petitions registered related to adoption where the plaintiff was either the adopted son or the widow of a Charan whose property had come under disputes after his death.[3] Adoption could be made within specific relations within the caste and adoption from outside the community was not permitted. Only from the close relation of the brothers, adoption was permitted so as to keep the property within the family.

As recipients of substantial land endowments and other gifts from their Rajput patrons many Charans possessed vast amounts of material assets. As such, they were often embroiled in property disputes. Dispute over ancestral property was quite frequent. Charan Natha of Modariya village had a position in the ancestral property which was obstructed by his Uncle's son Kesar. The Charan appealed that according to the property rights and customs, this was not legitimate. He petitioned to the state to take *wajib* (legitimate) decision as per the customs and traditions.[4] Similarly Charans Harupa, Deva and Ajba of Bhootavas village fought over their ancestral property. In this case again, the state bestowed the decision making to the knowledgeable persons of the village.[5] Troubles were also created by the *bhaibant* relations and the relatives of the Charans with regard to property ownership. Charan Lakha of village Charanvas reported that his *bhaibant* [6] relations were forcefully taking his land that belonged to his ancestors.[7] The state dealt with cases like these on daily basis. Several numbers of petitions were documented in the latter half of the eighteenth century that were related to property disputes. Barhat Rama complained that his brother Rau was utilizing his father's land and

well by himself and was not allowing him to share the property with him. He appealed to the state for a *wajib* decision and fair claim in his father's property as he was also a legal heir to it.[8]

A few customs and practices related to Charan's property rights therefore gets reflected in examination of the *bahi* records. The state's decision at times clearly stated and highlighted the customs that should be followed. In the dispute between two Charan cousin brothers regarding fields, Charan Ajba complained against his cousin Sagta who demanded half a share in the field that Ajba inherited from his father (this field was donated by Rathore Jujhar Singh to Charan's father). The matter was reported and the state categorically ordered that the cousin (Sagta) cannot have rights over the property of Charan Ajba.[9] The state was indeed very particular in following the customs and rules of each and every caste, thereby maintaining the social order and harmony among the members of inter caste or intra caste. The state took upon itself to divide the property of the Charans who died without leaving a will. In a dispute regarding inheritance of Charan Chaena's property, who died without any heirs; the dispute was settled by the state as under: Chaena's house, field and courtyard were equally divided between Charan Peetha Sawai and Dhola Bhan. Since expenses on funeral rites of Chaena were incurred by Peetha, so Dhola Bhan was supposed to pay half of the expenses incurred. Household items were divided as per the Charan's customs and traditions.[10]

Although rarely but Charans were at times dealt with strictness. Realising that every individual represented a productive resource that was extremely valuable to the state and society, state orders reflect the concern for other communities while dealing with disputes and social issues. Charan Kana Khivkaran of Merta had to give some money that was due to Hemasi Jairaj. The state ordered that 56 cows of the Charan should be sold and Hemasi Jairaj's due should be returned.[11] Despite the powers, privileges and position that Charans enjoyed as a community in Rajasthan, there were instances where the state had to control them for maintaining the social order while dealing with other communities. Similarly in *pargana* Nagor; people of Charan, Rajput and Jat communities of the villages Chhila, Tuki and Bhagu took money from Surena Maanmal and Daanmal, which they refused to return. The state

ordered the concerned persons of these communities to return the respective amounts to the baniya.[12] The state administration while giving *wajib* decisions, always tried to be fair and sound.

Whereas the state's authority followed simple methods for resolving the above disputes, the recommendation of the community leaders was an important input in the decision making process. Customary laws relating to these issues were complicated; therefore the state had to work in close association with the *jati* and caste *panchayats*. Numerous cases indicate that rather than immediate recourse to direct intervention and keenness to take matters into its own hand, the state preferred resolution of disputes through popular assemblies. Indeed, their local roots and sound knowledge of customary practices made them a force to reckon with, one that the state could ill afford to ignore. Further it was the desire of the petitioners also that his case should be resolved through the above method of discussions with the knowledgeable people; the Charan himself did not want to get into complexities of judicial processes.

A relationship of conflict as much as of cooperation between Charans and landed intermediaries like *jagirdars*, *chaudharies* and *bhomiyas*, as well as communities like jats and brahmins are noticed in the examination of petitions. *Jagirdars* often abused their power to appropriate properties, especially when a Charans mortgaged their property at the time of need for monetary assistance or distress. Charan Gyana's grandfather had three sons among whom his property was divided. When one of his brother's died, the other brother mortgaged his land to the *jagirdar* for twelve rupees. Charan Gynae pleaded that although he has his father's share; he demanded release of his Uncle's *dohli* land from the clutches of the *jagirdar*. Charan Gyane was offering to pay for releasing the mortgaged land from the *jagirdar* but the latter is adamant on not leaving it. Consequently, the state ordered to get the land of *dohli* back from the *jagirdar* after the investigation.[13] Conflicts between these communities were on several issues which concerned them on daily basis. The interplay of forces between the elites on one hand and the lower formations were dynamic and complex. They were plagued with myriad concerns that on one hand made them

form peaceful alliances and on the other hand many a times, led to disputes. Evidence from Marwar suggests that the engagement between the Charans and other communities was a far more complex two way traffic of power, demonstrating neither sheer conflict nor complete harmony. There was a need to accommodate and adjust to different customs and norms of various communities.

Land dispute was often a bone of contention and the reason for conflict between the Charans and other communities too. Charan Gajja's grandfather bought *dohli* land of Charan Gigha and Peema for Rs 40/- and was cultivating this piece of land for a long time. The *bhomiya* of this village (Navad) had illegally acquired the fields of the Charan in 1765 AD. Charan Gajja petitioned to the state pushing his claim over this land and as a testimony had the papers and documents of transaction, thus authenticating his claim. He appealed to the state to get back his land. The state ordered for an enquiry to know the reality and conferred decision making to the knowledgeable persons in the village.[14] Similarly, the quarrel between the Brahmin Bhikha of Bikharniya village and Charan Sagta of village of Khanpura was registered over a land dispute. The Brahmin had mortgaged his land to the Charan, but the latter illegally took possession of the land completely. The state clearly ordered to the Charan in this case to just hold the part of land that is allotted to him as per the deal (written document) and the rest should be returned to the Charan.[15] Conflict between Charans and Brahmins over land was an ongoing affair. Both the castes were entitled to land grants from the state at various occasions, therefore the struggle for the land and its ownership was something that was a perennial feature of the Rajput society. Other castes like that of the Mahajans also faced problems with the Charans vis-a-vis land. Mahajan Khinva reported to the state that he acquired Charan Sivdaan's land as *bhoglave*[16]. The Charan had been cultivating the land properly and giving land revenue (*hasil*) to Mahajan regularly. However now the Charan has stopped paying the *hasil* and his *bhaibant* were forcefully taking *bhog* (revenue) from his land.[17]

At the time of need for money, the Charan often resorted to mortgage of their *sasan* or *dohli* land in most of the cases, to the *jagirdar* of the village. Conventionally the *jagirdar* was known for a

conflicting relationship with other communities. The Charans too faced discord with *jagirdars* especially in cases of mortgage. Charan Padme of Lamba village appealed to the state of Merta asserting that his *dohli* land that he had mortgaged to the Bohra Devkaran in 1775 A.D., is now in danger as the Bohra was not ready to leave the land despite the Charan returning him complete money that was to be returned to get the land back. He appealed to the state to get his land back from the Bohra.[18] Evidences such as these were many, they just exemplify multiple identities involved in certain issues that the Charans had to deal with in their social life. Charan's *sasan* grants came under dispute when *jagirdars* forcefully acquired it from them. Charan Sade of Khinawadi village of *pargana* Jaitaran complained that half the village was his *sasan* grant but the *jagirdar* had forcefully acquired his house and field. The state ordered to give *wajib* decision and resolve the issue.[19] There were many claimants to one piece of land resulting to frequent land disputes among different caste and communities. The above dispute also reflected the state's reaction and response to myriad problems and concerns that Charans in Jodhpur grappled with.

Several other issues of dispute came to light in the petition records. Besides land and water; the importance of cattle and animals was also immense in the life of Charans. There were several petitions to the state regarding loss of cattle. Charan Memahi's two oxen were stolen in the Khandap village. The Thanayat of Malgarh took these two oxen from the thieves and gave it to Nagarchi Girdhar in lieu of his salary (*rozgar*). Girdhar further sold them to other people. These bulls were identified at village Sathalava. Charan Memahi petitioned to the state to get back his pair of oxen.[20] Furthermore the Jodhpur state took special care of the traders like Kachhela Charans to help them in trade activities. Kachhela Charan Visaram petitioned that his three buffaloes were stolen near the boundary of the Morsim village. He tried to search for the cattle but his efforts ended in vain. He requested the state to search for his cattle.[21] Jodhpur state strictly ordered its officials to assist the traders to carry out unhindered trade by helping them in protection of their cattle, animals and other goods. Charans even lent their animals to other castes for some period. As they were

materially prosperous and owned cattle and horses, they lent their cows, buffaloes and horses to the people of other castes. Here too in the transaction, there are large number of petitions by the charans in different *kachedis* of Jodhpur. Charan Karnidan reported that there was a transaction between him and Gujjar Sabla. All exchanges were cleared except for the compensation for one bullock that Charan had lent to the Gujjar. Karnidan demanded that either the Gujjar return the bullock or pay for it. The Gujjar was not obeying the *Panchas*' decision and therefore the Charan had to report the matter to the *huzur* (highest authority). The state ordered the *panchas* to revisit the matter by listening to both sides of the party and make a compromise. It was also stated that the *panchas*' order would be final and binding.[22] In the above case two things are clear, first that the state respected and trusted the *panchayats* decision and ordered the people to respect that. Secondly, in cases of exchange and transaction, the state initiated an enquiry and discussion before asking any of its judicial authorities to give *wajib* decision. In this case, a person from lower caste i.e. Gujjar was involved, irrespective of that the state ordered for a compromise and settlement between the two rather than randomly punishing the Gujjar for his fault.

## Mechanisms for Dispute Resolution

The prime concern of the state was to maintain the social order, therefore the Jodhpur state had various agents and means for dispensing justice. Surprisingly many a times it was the *Panchas* who could not give satisfactory decisions. Charan Hari Singh, Surta, Dungar Singh and Devkaran of villages Bugada, Ralawata and Kitwa had an internal dispute with Charan Gyana over property. The case was given to the *Panchayat* and was documented. However the *panchayat* failed to give justice, thereby the state ordered that knowledgeable persons should be consulted and *wajib* decision should be taken.[23] It was not necessary that the *panchayats* were always preferred over knowledgeable people in the village. Very often the state preferred the knowledgeable people for decision making over the *Panchas*. The dispute between two Charans Surajmal and Mukane of Chotti Padu village, over property was only resolved when the state ordered that the case should be

referred to the *chaudhari*, mahajan and other knowledgeable people of the village for decision making.[24]

Influential and respectable Charans were also among men who comprised the body of knowledgeable people who were often consulted by the state for judicial dispensation. For instance the state gave responsibility to Charan with *sasan* grant in Parbatsar to resolve the property issue between Charan Inderbhan of Indarpura village and Charan Bhawanidan of Amarpura village.[25] The state used its own discretion while referring different petitions to various levels of jurisdiction. There was a hierarchy that was generally followed in the process of decision making; however this hierarchy was at times made flexible at the whims of the state.

Few petitions reflected that the decisions given by the *panchayats* were often flouted, and here again the state urged and ordered that the *panchayat's* decision should be complied with. Charan Beeja of Bagadi village died without any heir. His property (house and land) was contested between his brother Prabhudan and maternal grandson (*dohita*) Beegha. The deceased Charan Beeja lived with his maternal grandson Beegha who had also expended Rs. 141/- on his grandfather's funeral rites. Charan Beegha expected some part in the property of the deceased Charan. The state in order to resolve the matter deputed the *Panchas* from five villages. The *panchayat's* decision was that the house and field should be given to Prabhudan, the brother of the deceased and Rs. 141/- had to be returned by him to the grandson. Both the charans were instructed to abide by this decision of the *Panchas*.[26] Later when Prabhudan went to pay Rs. 141/- to the grandson Beegha, the latter refused to accept the money and continued to claim his right on the house and field of his deceased grandfather. The state again reiterated and instructed the parties to abide by *Panchas* decision.[27] Here it is important to reiterate the principles of hereditary of charans' property, which is passed on to the brother and sons of the deceased charan. The family of the deceased charan's wife cannot claim any part in the charan's property.

Another method that the state employed to resolve the cases of dispute, was to get an undertaking *(muchalka)* signed from the parties involved in the dispute. For example, the dispute between

Charan Karamchand and Jat Mukda over agricultural field and well was resolved in presence of a Brahmin as the witness, by getting an undertaking of Rs. 101 /- (that had to be paid) signed from both the parties in case the matter does not get resolved mutually.[28] This practise was followed by the state so that the case does not come back to the state's *kachedi* again and the verdict is final and binding on both the parties. After the state administration received the undertaking, it was firm in getting the required payment by the parties involved in the dispute, even if it was a Charan. The state's firmness in this aspect reiterates that its decision must be complied by all communities. In the dispute between Bohra and Charan Aidaan Mahes regarding some amount of money, the *panchayat* resolved the issue by getting an undertaking of Rs. 11/- from both. After this it was decided that the Charan had to pay Rs. 84/- to the Bohra. Out of the total amount, Rs. 72/- still had to be paid by the mahajan Naimidas who represented the Charan. The state ordered Naimidas to make the required payment to the Bohra as decided previously by the state.[29]

Customary practise of taking oath was also followed to resolve petty disputes of transaction. In an internal dispute between the Charan and Sarraf Kachara regarding loss of a document that stated the transaction was registered. In order to establish Charan's truthfulness, his mother kept the letter on her head and swore. The state declared that if nothing happened to the Charan's mother in the next few days, then the Charan would be considered right and Sarraf wrong. Charan's claim was taken as truth and Sarraf's claim as wrong.[30] In the age when laws and codes of conduct were not properly written and sanctioned, the state had to follow practices like these in order to resolve issues on daily basis.

It is quite certain that there are ample incidences that suggest stark heterogeneity among the Charans as a community. Their dominance in the Marwar region of Rajasthan is quite evident from the patronage they received especially from the Rathore rulers of Jodhpur and Bikaner. Moreover the charan population settled in these regions were large in number as there are references to many villages in these regions (granted as *sasan* grants), that were inhabited and controlled by the Charans. It is thereby significant to acknowledge the diversity in the socio-economic standards among

the members of this community. Multiple levels of contestation in the daily lives of the Charans must be studied rather them merely viewing them as an unproblematic affluent social elite in Rajasthan. The new scholarship have to shift the vantage points and look at the archives with fresh questions and themes in mind while reconstructing the history of this community.

**References** :

1. *Jodhpur Sanad Parwana Bahis*, is a collection of about 158 bahis (nos. 1- 56, VS 1821-1967/ AD 1764-1910) [thereafter *JSPB*]. Arranged chronologically they are petitions from people and the state's response to them. These records comprise matters related to taxes, exactions, crime, usurpation of land and many other disputes emerging from flouting of normative behaviour by different communities.
2. Report Mardumshumari Raj Marwar Census Report 1891, Rai Bahadur Munshi Hardayal Singh, Maharaja Mansingh Pustak Prakash Shodh Kendra, (Jodhpur, 2010), p. 342.
3. *JSPB* 14, 1831/1774 (May), f. 169A; *JSPB* 5, 1823/1766 (May), f. 174B; *JSPB* 6, 1824/1767 (July), f. 98A.
4. *JSPB* 14, 1831/1774 (July), f. 108A.
5. *JSPB* 16, 1833/1776 (August), f. 139B.
6. *bhaibant* - bonds of brotherhood.
7. *JSPB* 15, 1832/1775 (May), f. 128A.
8. *JSPB* 13, 1830/1773 (May), f. 303A.
9. *JSPB* 11, 1828/1771 (July), f. 119A.
10. *JSPB* 13, 1830/1773 (November), f. 20B. (details of the partition that took place are documented in the record).
11. *JSPB* 5, 1823/1766 (November), f. 130A.
12. *JSPB* 5, 1823/1766, f. 42A.
13. *JSPB* 14, 1831/1774 (June), f. 255A.
14. *JSPB* 3, 1822/1765 (July), f. 108 A, case 500.
15. *JSPB* 3, 1822/1765 (July), f. 51A, case 276.
16. *Bhoglave*: land held against loan.
17. *JSPB* 15, 1832/1775 (March), f. 206B.
18. *JSPB* 15, 1832/1775 (September), f. 82B.

19. *JSPB* 15, 1832/1775 (September), f. 228B.
20. *JSPB* 6, 1824/1767 (March), f. 158B.
21. *JSPB* 15, 1832/1775 (July), f. 175B.
22. *JSPB* 11, 1828/1771 (May), f. 24A.
23. *JSPB* 10, 1827/1770 (December), f. 96B, Case 1.
24. *JSPB* 1, 1821/1764, f. 50A.
25. *JSPB* 12, 1829/1772 (October), f. 221A.
26. *JSPB* 14, 1831/1774 (July), f. 170B.
27. *JSPB* 16, 1833/1776 (September), f. 87B.
28. *JSPB* 15, 1832/1775 (January), f. 106A.
29. *JSPB* 14, 1831/1774 (May), f. 185B.
30. *JSPB* 9, 1826/1769 (March), f. 120A.

**Tripti Deo**
Assistant Professor
Department of History
Lakshmibai College
University of Delhi
triptideo@gmail.com

❑❑❑

# The Akali Dal Politics: Central Legislative Assembly Election (1945)

• **Dr. Baljit Singh Virk**

The Sikhs were the third largest community in undivided Punjab. They concentrated in the Jullundar and Lahore divisions and Montgomery and Lyallpur districts of the Multan division.[1] The Sikhs organized themselves and founded the Central Sikh League (1919) 'to protect and promote their political rights'.[2] It supported the Congress leadership, but it did not involve the Sikh community as a whole in politics.[3] The Shiromani Akali Dal was formed in 1920 as a fighting force in the Shiromani Gurdwara Prabandhak Committee in its struggle for the liberation of Sikh shrines from the hold of corrupt mahants. The primary goals of it was to protect the rights of the Sikhs, to fight for the political rights for the community and 'just rights' of the Sikh employers in government service.[4] After the control on the Gurdwaras under the Shiromani Gurdwara Prabandhak Committee, the Akali Dal becomes its political arm. The unique interplay began between religion and politics like the *piri* (the religious power), and miri (the political power).[5] In the course of time, it assumed the role of sole custodian and carrier of all political and non-political interests of the Sikh community.[6]

By 1945, about eleven per cent of the population was enfranchised in the British Punjab. For the Muslim League, it was the struggle for life and death, since the Punjab was considered the cornerstone of 'Pakistan'. The Congress party contested for the unity of India against the 'Pakistan' scheme. The Akali Dal had to prove like the Muslim League that it represented the Sikh community. One way or another election decided the fate of India. The present article attempts to delineate the Akali Dal politics during the Central Legislative Assembly election of 1945.

The population of the Punjab as whole was 28.4 million in 1941: Muslims 53.2 per cent, Hindus 29.1 per cent, Sikhs 14.9 per cent, Christians 1.5 per cent and others were 1.3 per cent.[7] The Central Legislative Assembly elections were held in the Punjab in November 1945. These elections were significant in themselves because the election propaganda and slogans of various parties were different from previous and the post-partition elections. Along with the varied issues, the 'Pakistan' question was more highlighted by the Muslim League. The other political parties could not succeed in opposition to 'Pakistan' because there were many differences among themselves. The Central Legislative Assembly elections surcharged the political parties for the Provincial Legislative Assembly election (1946) and the result of that election had also affected the provincial election results as well.

The Shiromani Akali Dal had been supporting the Indian National Congress on every matter, but they contested these elections separately. Akali leader Ganga Singh in his statement urged the people, 'Sikhs would exercise their right to vote carefully, as this time their representatives to legislatures had to shape their destiny'. He asked the Sikhs to pledge before the Guru Granth Sahib to vote merely the Akali candidates. But he cleared that as far as the struggle for freedom of the country was concerned the Sikhs were with the Congress.[8] However, the Congress wanted to put up their separate candidates for the Sikh seats. This meant the right of separate representation. It was felt that the Sikh representatives should exercise not for the betterment of the community but under the dictates of the party, which had no faith in Panthic organization.[9] The Akalis opposed M.A. Jinnah's Pakistan slogan but like the Congress they were failed to unite themselves. The Hindu Mahasabha had mostly lost its mass support. Most of Hindus were attracted towards the Congress party. However, the Hindu Mahasabha seemed to have slipped into the background as far as Punjab was concerned.[10] Gokul Chand Narang withdrew his form for the Central Assembly. In a press statement he said that the Congress had accepted his demands against Pakistan. Due to that he withdrew his nomination papers.[11] The end of the War found the Communist Party of India depressed and isolated.[12] Slogan of 'people's war' rejected by the masses and

secondly they were not against the demand of Pakistan. The end of the War found the Communist Party of India demoralized and isolated. Now by that time, the Communists were thus isolated from the national mainstream. To see the party position and their stand towards the Pakistan majority of Sikh peasants shifted their loyalty towards the Akali Dal. The Unionists did not fight the Central Legislative Assembly elections which strengthened the Muslim League's claim of being representative body of the Muslims. Khizr Hayat Khan cleared in a statement that the Central Assembly was a body without any real power or authority. It could only pass resolutions which did not bind the Executive Council to anything.[13]

Though the Sikhs had gone to polls to register their opposition to Pakistan, yet the Akalis and the Nationalist Sikhs were divided into various factions. Primarily popular groups among the Akalis were known as Master Tara Singh and Giani Kartar Singh groups, and the Nationalists were known as the Udham Singh Nagoke and Kharak Singh groups.[14] The Akali Dal contested these elections in co-operation with the Congress but on its own ticket and with its own election manifesto, which claimed Khalistan for the Sikhs in case 'Pakistan' was conceded to the Muslims. In these elections, an unsuccessful attempt was made by the Akali Dal to come to an understanding with the Muslim League. The effort was not sincere but the reaction of the failure of the Akali-Congress accord.[15]

The Akalis argued that the Sikh representatives in the provincial elections were only member representatives of the Sikhs and owing allegiance to the Panth. While serving the interests of the country, they truly protected the interests of the Panth.[16] They appealed to all the Sikhs to lend their full support to the candidates selected by the Panthic Board, ''as the issues involved in this election are vital and, therefore, it is essential that the Panth should speak with one voice and develop the maximum strength to cope with the problems that are to arise in the near future''.[17] Sardar Santokh Singh stated that there was no reason why the right of the Sikhs be trampled underfoot. If there could be honourable compromise with the Congress, it would be welcomed, but if not the Panth must fight elections to maintain its identity and existence, it was considered the duty of every Sikh to unite at critical moment

and make stronger the Panth. They thought that as long as separate electorates remain they had no option but to search for elections on Panthic ticket. They would declare without equivocation they would oblige with any party that stands for a United India. They must not, therefore, disperse their potency to promote the educational and economic, agricultural and industrial development of the province.[18] Inaugurating the Akali Dal's election campaign in Amritsar Master Tara Singh had issued a lengthy statement to the Press felt that minority like the Sikhs had to take a great care because the new constitution for India would be framed by the elected representatives of the people. He stated, "freedom would be of little avail if British domination is to be replaced by either Muslim or Hindu domination. He does not believe in strengthening Muslim domination under the garb of freedom and then fighting against the communities".[19] He wanted to see the Panth and country free and secondly, he paid attention on Panthic well being on priority based.[20]

On 29 September, 1945 at Gujranwala Akali leaders decided to contest the elections which were to form the basis of the projected constitution making body whose decisions were bound to have far-reaching effects on the future of the Panth.[21] Master Tara Singh was authorized to constitute a Sikh Election Board in consultation with the leaders of all groups in the community. After an aborted attempt by the Udham Singh Nagoke group to have elections fought on the Akali Dal ticket, it was eventually decided that Sikh candidates would contest for elections on the Sikh tickets and would support the Congress where national subject was concerned.[22] It was also decided that only such representative should be elected, who could effectively protect the interests of the community and fight for country's freedom.[23] At Gujranwala Master Tara Singh elected six members of the Sikh Election Board. The Board was authorized to give tickets to the candidates who were to contest the elections.[24] The Panth appealed to all Sikhs to lend their full support to the candidates selected by the Board, "as the issues involved in the election are vital and, therefore it is Panth that would speak with one voice and develop the maximum strength to cope with problems that are to arise in the near future".[25] Babu Labh Singh claimed that the Akali Dal was only a

single party who represented the Sikh community, "the Khalsa Panth was created by Guru Gobind Singh Ji. We can save this Panth, the Panth of Guru Gobind Singh Ji and without Shiromani Akali Dal no other party could be considered as the Panthic Party".[26] Addressing an Akali Conference in village Gurusar Satlani, Jathedar Mohan Singh, President of the Shiromani Gurdwara Prabandak Committee and some other leaders delivered vigorous speeches deliberating the significance of the Panthic ticket. They asserted that the Sikhs, who had been given separate rights after such a great struggle, could not entrust their destiny to the other communities. The two resolutions were adopted urging the voters to vote the nominees of the Panth and demanded lenient treatment to the Indian National Army.[27] The Akalis gave the slogan Panth Azad, Des Azad ("free community, free country"). The Akali's wanted their community (Panth) as well as country should free from slavery. Through our separate existence we would transform it into the realism. So, elections would be fought only under the Panthic banner. At this moment when the slogans of Mascow first, Wardha first and Pakistan first were raised, if Master Tara Singh didn't give Panthic slogan, the coming generations would curse on us.[28] Shiromani Akali represent itself as Panthic party (represents Sikh community). As a Panthic party it was claimed to be the custodian of Sikh Community since 1920. During the Central Assembly elections they constituted a Sikh Election Board (Panthic Board) but the non Akali Sikhs were kept out of the Board. The Nationalist Sikhs openly supported the Congress party. But no doubt in the last decade of the colonial rule the Shiromani Akali Dal always invited as a representative of the Sikhs (Panthic party) by the British Government to solve the political deadlock as well as to all future political verdicts.

The Akali Dal started its election campaign on 27 August 1945. A Conference was held at Guru Ka Bagh under the Presidentship of Sardar Hem Singh Thekadar. Master Tara Singh, Giani Kartar Singh, MLA, and Sardar Kartar Singh Advocate delivered their exciting speeches. Kartar Singh said, "one thing which the Sikh community could never ignore that if the candidate would be elected in the Central Legislative Assembly who is in favour of non-Sikh communities then our existence would end and

reservation we got would also be meaningless.… I only say to the Sikh brethren, they should go after beyond the emotions and see the truth and work only for Panthic interests".[29] However, Baba Kharak Singh in a press statement opposed such a so called Panthic Board and openly supported the Congress candidates.[30] Furthermore, Giani Kartar Singh pointed that out of 1565 elected members of provincial legislatures only 36 were the Sikhs. So the Sikhs would have only 4 members in the Constituent Assembly, which would be contained of 159 members. It was, therefore, essential that all the Sikh members should be elected on behalf of the Shiromani Akali Dal so that a joint demand against 'Pakistan' could be made. Udham Singh Nagoke argued that the Akali were tried soldiers both inside and outside the country. As such, the Congress should not have asked for any guarantee from them. He appealed the Congress party to leave them alone to contest the elections.[31] Master Tara Singh regretted that though the Congress talked so much against communalism, yet by signing the Lucknow Pact (1916) it had accepted the principle of communalism.[32] Ujjal Singh appealed to the Sikhs that "the coming elections have special importance in view of the fact that members of the proposed Constituent Assembly will be selected by the elected representatives of the communities in the various Assemblies. If the Sikhs have to maintain their position, they must send such candidates to the Assembly as may be expected to fight fearlessly for the Panth and for the country.[33] Sardar Ishar Singh Majhail, Jathedar Udham Singh Nagoke, Jathedar Mohan Singh and some other leaders with-pro-Congress tendencies delivered speeches at village Pheloke, district Amritsar. They declared that they would not oppose the Congress for the cause of freedom. However, by safeguarding the religious rights of the community, they must maintain their separate entity and it was solely this reason, that the Shiromani Akali Dal contests the forthcoming elections.[34] The Akali Dal for the time being discarded its Azad Punjab scheme and entered the elections without any demand for a separate homeland, for safeguarding of the rights, language, culture and traditions of the Sikh people.[35] The Sikh leaders, similar to the Muslim League preferred to unite the Sikh masses under the Panthic plank. Master Tara Singh appealed the people, "suppose I am not good and have done many mistakes

but that is mine not of the Sikh Panth. We are forgetful but Panth is unforgettable".[36]

The same fear was in the minds of the Muslim League leaders and masses that they had been ignored under the Congress regime and their rights would not be safe after the independence. Mian Iftikhar-ud-Din said, "after being in the Congress for two or three years, I was convinced that there was no place for the Muslims in the organization...."[37] The Indian National Congress party was fully confident that it was the only national party which represented all communities. "Who dies, if the Congress lives and who lives if the Congress dies" asked S. Partap Singh, in course of a rejoinder to the statement of Master Tara Singh challenging the right of the Congress to contest the forthcoming elections from the Sikh constituencies. Referring to Master's statement, he asserted that as a result of separate rights given to the Sikhs their protection would not be annihilated if the Congress gets the Sikhs elected on its tickets. He blamed that Master Tara Singh was trying to be more royalist than the king. Imperialist England introduced separate communal representation in India after the failure of Lord Curzon's policy of dividing Bengal for administrative purposes.[38] The Congress leaders fully hoped that they would win the two seats which were reserved for the Sikhs in the Central Legislative Assembly.[39] Pandit Jawaharlal Nehru also criticized communal parties; Muslim League and the Akali Dal. He argued that they only paid lip sympathy to freedom but never suffered or made sacrifices. Certain Sikh leaders were misleading the Sikh masses. These leaders, when the Congress was engaged against the British, were engaged for minor gains, sometimes with the Unionists, sometimes with the Muslim League and sometimes with the Commander-in-Chief. The Sikhs would only be harming their own interests, if they let themselves go into communal channels.[40] He assured the Sikhs and the Muslims, that there would be real power in the hands of the people without caste and creed in free India. "The time for knocking at the doors of the British Government is long past. In free India to come, there would be no Hindu Raj, nor a Muslim Raj, in fact, Raj of all Hindus, Muslims, Sikhs, Christians and others with power resting in the hands of the people as a whole. It will not be the raj of a handful few, for this will make no

more difference than will the replacement a few white officials by Indians. This raj will be a combined rule of all the elements that make India".[41] However, these appeals did not attract the ignorant masses which believed that their interests and rights would be safe only by those who belonged to their communities.

The Congress "wanted to know that the battle of the Punjab is tug of war. If they succeed in this battle, then they will easily lead to the Muslim League and other communal parties. For this, they need to be united themselves and compromised with other groups without any delay who are fighting for independence.[42] The Akalis failed to unite all Sikh groups under the Panthic flag. Three prominent leaders of the Chief Khalsa Diwan, namely Hazara Singh, S. Satinder Singh and Bawa Kahan Singh Bedi, contradicted that with the so called Panthic ticket the Akali party could not be considered truly Panthic ticket, as on the so called Panthic Election Board, the Chief Khalsa Diwan and other Sikh parties were not represented.[43] Thus, the Central Akali Dal, Namdhari Darbar, the Congress Sikh Party, The Nationalist Sikh Workers' Party, and Malwa Khalsa Darbar supported the Congress candidates.[44]

During the central elections, the Pakistan issue was highlighted by the Muslim League party. The Akalis and the Congress laid emphasis on the Panthic interests and United India respectively. Except the Congress, the Muslim League and the Akali Dal fought on the communal lines. Mr. M.A Jinnah laid claim to the Punjab as the cornerstone of his 'Pakistan'.[45] He stated "Pakistan is a question of life and death for us. We shall live and die for Pakistan. The moon for Pakistan is shining and we shall reach it".[46] The Sikh leaders pointed out that the Sikh community stands unequivocally pledged to fight this scheme. "The Punjab is a homeland of Sikhs. The Sikh vote can and shall be thrown only on one side that is prepared to treat the Sikhs as equals".[47] 'The Sikh *Panth* will resist Pakistan to the last man'. This declaration was made by Sardar Ishar Singh Majhail. He exhorted the Sikhs to rally around the Panthic flag which was the emblem of sacrifice and freedom. He appealed to the Sikh voters to vote for only those Sikh candidates who would stand on the ticket of the *Panth.*[48] Sardar Baldev Singh declared that if the

Muslim League promised to build houses of gold for the Sikhs, in Pakistan they would refuse to live in it. The Sikh Panth had proclaimed to the world its opposition to Pakistan in unambiguous terms. The Sikhs would have nothing to do with the Muslim League, so long as it stuck to the Pakistan scheme. Appealing to the Sikhs to vote for the Akalis and against them every vote cast for the Communist would be a vote for a Pakistan and the Muslim League. He said that the Sikhs should have determined group of members in the Punjab Legislative Assembly, united by common purpose and ideology so that they could effectively serve both the country and community.[49]

Baba Kharak Singh, in a public meeting in Kapurthala House grounds, emphasized that "to vote a candidate on the so called Panthic ticket is to vote for reactionary forces and against India's freedom movement and therefore, the teaching of the great tenth Guru Gobind Singh who stood against and preached against slavery of any kind". He further said, "so long as even one Sikh child is alive Pakistan will not be allowed to be established".[50]

The Akalis also did propaganda against the Communist party which supported the Pakistan demand. At Guru Ka Bagh, Sh. Harbans Singh Ahilkara delivered a speech and said that the Communists have deviated from religion and Sikhism. Sh. Atma Singh stated, "it is only the Panthic party which makes the Panth successful in every field. So, the candidate who would contest from the Shiromani Akali Dal means the candidate of the Panth. Hence, it is the duty of every Sikh to cast votes in favour of the Panthic candidate".[51] The Communists did open propaganda in favour of Pakistan. Master Tara Singh alleged that the Congress is ready to concede the Pakistan scheme of the Muslim League. The candidates selected from the Sikh tickets would mean that portion of the Panth accepts the Pakistan scheme.[52] S. Baldev Singh appealed to the Sikhs to vote only to Akalis and any vote cast for the Communists would be a vote for Pakistan and the Muslim League.[53] Sardar Ishar Singh Majhail, Jathedar Udham Singh Nagoke and Jathedar Mohan Singh criticized the Communists and the Punjab ministry and discussed at length problems of the peasants. They declared that they would contest in the law courts the validity of the Chahi tax collected in some districts.[54]

The Communists were not really anxious for elections because their notable workers were still in jails and their absence would hinder their election campaign. Secondly, they knew that an election campaign means on the part of Congress, the Muslim League and Akalis to invade their spheres of influence in labour and rural areas.[55] Since 1944 a large number of Communist members joined the Congress, Muslim League and the Akali party. In the Central Assembly elections they supported the Congress candidates. But in the Provincial Assembly elections they were finally given up hopes of remaining with the Congress and put up their (24) candidates.[56] In those constituencies where they were not contested, they were supporting the Congress candidates.[57] At Raja Lang, Namdhari satire on the Communists workers, "there is no member of staff of Congress party, but you were seeing to be run everywhere".[58] Akalis and Communist had their influence in rural area particularly on peasantry. The Communist party which justified the Pakistan demand also agreed to the 'Azad Punjab' to attract the Sikhs. They also provided radical inputs to the Muslim League election manifesto in 1944. At the same junction, by anti Akali propaganda they politically mobilized the rural masses for the upcoming Provincial Assembly elections. But Akalis were able to consolidate their position by eliminating the Communists and other Sikh rivals.[59] The Akalis also did propaganda against the Communist because they supported the demand of Pakistan. In the provincial elections the Communists were totally failed. In the General constituencies they had polled only 0.2 per cent votes and in the Labour seats they got 8.95 per cent of votes.[60]

The importance of Central Legislative Assembly election becomes evident from the fact that Sardar Sohan Singh Rais, nephew of Sardar Balwant Singh, came there by air from Peshawar to vote for the, Congress candidate.[61] A 125 year old Jat came in a Tonga and with the support of volunteers entered the polling booth to cast his vote in fovour of the Congress candidate in the Central Assembly election at village Pasrur in Sialkot district.[62] In many places, voters came out in the form of a group accompanied by brass band carrying flag in their hands and shouted loudly whom they polled their vote.[63] The wine (mostly country liquor) and money were freely used in the election to the Central Legislative Assembly was one of the allegations

made in a report which Master Mota Singh, and other Sikh leaders had submitted to the provincial Congress Committee to be sent to Sardar Vallabhbhai Patel. These Sikh leaders had been touring all over the Punjab in connection with the election. Master Mota Singh, in his report, alleged that at one polling station, voters were bought for Rs. 200 each and actually Rs. 3,000 was paid for buying 15 votes.[64] During these elections (1945-46), no party could claim that it has maintained the moral values. Every candidate wanted to be successful by fair or foul means. They used not only their political position but also threatened the masses by physical injury. A large sum of money changed hands when there was scarcity of necessary goods. Candidates of different political parties had used all means to secure maximum votes. They bribed the voters with cash, fund for religious buildings, to provide meals, liquor, opium and even granted the lands. The places of worship too were going on a roaring trade. Some candidates had been struck with a sudden religious fervour and made donations on the slightest provocation. In mixed constituencies, they had developed commendable non-communal outlook, donating to a mosque, gurdwara and temple, without any distinction.[65]

Out of twelve seats, four candidates were selected unopposed. Three were the Muslim League and one for the Congress candidates. For eight seats, there are only twenty two candidates. The Congress party captured all the three Non-Muhammdan seats; the Muslim League got six Muhammadan seats. The Akali Party got two Sikh seats. Only one independent candidate was elected on the Punjab Landholders' Constituency. Now at this time, the total 24,897 Sikh voters were for the Assembly voter list. Out of these votes, the Panthic candidates got 64.1 per cent; the Congress candidates got 35.8 per cent votes. The Muslims League got 83.09 per cent votes from the Muhammadan constituencies and the Khaksars got only 3.2 per cent. From the Non-Muhammadan constituencies, the Congress got 94.2 per cent and the Hindu Mahasabha got only 5.6 per cent votes.[66] In all contested constituencies in India, the Congress got 59.6 per cent, the Muslim League 27.7 per cent, Hindu Mahasabha 4.5 per cent and the Akali party polled 1.81 per cent of the total votes in the Central Legislative Assembly elections.[67]

**The Central Legislative Assembly Election Results (1945)[68]**

| Party | Unopposed | Contested | Total |
|---|---|---|---|
| Muslim League | 3 | 3 | 6 |
| Indian National Congress | 1 | 2 | 3 |
| The Akali Dal | 0 | 2 | 2 |
| Hindu Mahasabha | 0 | 0 | 0 |
| Khaksar | 0 | 0 | 0 |
| Independent | 0 | 1 | 1 |
| **Total** | **4** | **8** | **12** |

So, it is clear from the above propaganda and results that the Muslim League represented the Muslims, the Congress the Hindus and the Akali Dal the Sikhs. The Hindu Mahasabha and the Khaksar disappeared from the political scene. The Muslim League's demand of Pakistan and the Sikhs' fear from Congress party and their stand against the Pakistan were very helpful for the Muslim League and the Akali Dal to attract the masses of their communities. The Congress failed to show that they are the party of all communities. With the help of the nationalist Sikhs, they fought on two Sikh seats but failed to get any. One point is also clear from the elections that every community wanted to save their community identity first from the freedom of the country. The main propaganda was going for the Sikh seats rather than the Muslims. The Muslim League had no strong opposition because the Unionists were not contested. The central elections cleared the picture of the provincial elections. The elections were more important for the Muslim League because they were active to establish contact for the masses and propaganda, compared with the main opposition, the Unionist party, which had started it late. The Panthic slogans of the Akalis were very helpful for them, if they did not contest for the Sikh Panth, their community and Panth would not be safe. These elections

surcharged all the political parties for the Punjab Legislative Assembly elections. All political parties contested the next elections on the same propaganda because in the first battle they were succeeded.

In the Sikh constituencies, Congress candidates lost their seats. The main reason of their defeat was that all the Government machinery and officers helped the Akali party. The officials sent letter to the *namardars*, *zaildars* and *supaidposhes* to help the Panthic candidates. On the other side, at the polling station S. Partap Singh Kairon was busy in gossiping with Ganga Singh and Jathedar Mohan Singh. The Communist workers who were bringing the voters had objection on his non-seriousness. In a smart way he argued that they were sitting close together because they had many associations with each others. S. Darshan Singh had brought only four voters by the party's car in the whole day but they polled to the Akali candidate. Many Congressmen directly or indirectly supported the Akali candidates. In Killa Didar Singh, Moga Singh had reached one hour late. He had a power of attorney, due to that many voters swung their moods and cast their votes in favour of the Akali candidate. S. Harnam Singh, member of Punjab Congress Committee, was appointed as an office incharge where there was only a single registered voter.[69]

The elections of 1945-46 were the last elections to be held before the independence. For the Muslim League, it was the struggle for life and death, since the Punjab was considered the cornerstone of 'Pakistan'. The Congress party contested for the unity of India against the 'Pakistan' scheme. The Akali Dal had to prove like the Muslim League that it represented the Sikh community. The Akalis participated under the Panthic name but in reality all the members of the board belonged directly or indirectly to the Akali Dal. The main propaganda which they stressed during the elections was: "Free Panth and Free Country", resist Pakistan to the last man, the Communist were not Sikhs. The Sikh would only survive if they elected their own representatives. But under the Panthic banner they were failed to gain votes of the entire Sikh community. They got 64.1 per cent of Sikh votes. The Central Legislative Assembly elections surcharged the political atmosphere in the Punjab. It was a trial which unfolded its fury and momentum

during the Provincial Legislative Assembly elections. These elections played an important role in the partition of India, which was impossible without the partition of the Punjab.

**Refrences :**


1. Ian Talbot, *Punjab and the Raj (1849-1947)*, Manohar, New Delhi, 1988. pp. 29-33. See also, Amarjit Singh, *Punjab Divided: Politics of the Muslim League and Partition (1935-47)*, Kanishka, New Delhi, 2001, pp. 12-13.
2. K.C. Gulati, *The Akalis: Past and Present*, Ashhajanak Publication, New Delhi, 1974, p. 20. See also, Sukhmani Bal Riar, *Politics of the Central Sikh League*, Unistar, Chandigarh, 2007, p. 1.
3. Fauja Singh, "Akalis and Indian National Congress (1920-1947)", *The Panjab Past and Present,* Patiala, Vol. XV-II, October 1981, 455. See also, A.S. Narang, "Movement for the Punjabi Speaking State", Indu Banga (ed.) *Five Punjabi Centuries*, Manohar, New Delhi, 1997, pp. 244-45.
4. Harish K. Puri, "Akali Dal and State Autonomy: Some Observations", *Proceedings of the Punjab History Conference*, Fourteen Session, 18-20 March 1980, p. 250.
5. On 15 November 1926, a 175 members Committee called the Shiromani Gurdwara Parbandhak Committee was established to manage all the Sikh shrines: Ian Talbot, *Punjab and the Raj (1849-1947)*, Manohar, New Delhi, 1998, pp. 91-92. See also, S.C. Arora, *Turmoil In Punjab Politics*, Mittal Publications, New Delhi, 1990, p. 12.
6. H.K. Puri, "Akali Dal and the State Autonomy: Some Observations", Proceedings of the Punjab History Conference, 14th Session, March 28-30, Punjabi University Patiala, 1980, p. 251.
7. Gopal Krishan, "Demography of the Punjab (1849-1947)", *Journal of Punjab Studies*, Vol. 11:1, pp. 77-89.Iqbal S. Sekhon, *The Punjabis: The People, their History, Culture and Enterprise*, Cosmo, Publications, New Delhi, 2000, p. 197.
8. *The Tribune*, 1 October 1945.
9. *Akali*, 30 August 1945.
10. *Ibid.* 1 November 1945.
11. *Ibid.*

12. M.R. Masani, "The Communist Party in India", *Pacific Affairs*, Vol. 24, No. 1, March 1951, p. 25.
13. *The Tribune*, 11 November 1945.
14. Fortnightly Reports for the Punjab for the second half of July 1945: *Home Political*, File No. 18/7/45-Poll (1).
15. S.S. Bal, *Political Parties and Growth of Communalism in Punjab (1920-1947)*, CRRID, Chandigarh, 1989, p. 33.
16. *The Tribune*, 30 September 1945.
17. *Ibid.*
18. *Ibid.*
19. *The Civil and Military Gazette*, 1 September 1945.
20. *kali*, 30 August 1945.
21. *The Tribune*, 1 September 1945; H.N. Mitra (ed.), *The Indian Annual Register*, Vol. II, 1945, Gian Publishing House, Delhi, 1988, p. 168.
22. Fortnightly Reports for the Punjab for the first half of October 1945: *Home Political*, File No. 18/10/45-Poll (I).
23. *Copy of the Proceeding of the Fifth All India Akali Conference*, *Gujranwala*, August 29 September 1, 1945, Private Collection, cited in Jaspreet Walia, *Master Tara Singh and Sikh Politics (1920-1947)*, Unpublished Ph.D Thesis, G.N.D.University, Amritsar, 2005, p. 163.
24. *Prem Sandesh*, 24 October 1945.
25. *The Indian Annual Register*, Vol. II, 1945, p. 166.
26. *Fateh*, 19 November 1945.
27. *The Tribune*, 23 October 1945.
28. *Prem Sandesh*, 31 October 1945.
29. *Akali*, 29 August 1945.
30. *The Tribune*, 23 November 1945.
31. *Ibid*, 1 October 1945.
32. *Akali*, 3 August 1945.
33. *The Tribune*, 3 September 1945.
34. *Ibid.*, 4 September 1945.
35. Ajeet Javed, *Left Politics in Punjab (1935-1947)*, Durga Publications, Delhi, 1988, p. 222.
36. *Fateh*, 19 November 1945.
37. *The Civil and Military Gazette,* 30 October 1945.

38. *The Tribune*, 13 September 1945.
39. Patel to Nehru, 7 November 1945, Durga Das (ed.), *Sardar Patel's Correspondence (1945-50)*, Vol. II, Navjivan, Ahmedabad, 1972, p. 70.
40. *The Civil and Military Gazette,* 20 November 1945.
41. *Ibid.*
42. *Fateh*, 12 October 1945.
43. *The Civil and Military Gazette*, 22 November 1945.
44. Fortnightly Reports for the Punjab for the first half of October 1945*: Home Political*, File No. 18/10/15-Poll (1).
45. *The Tribune*, 2 October 1945.
46. *Ibid.*, 10 October 1945.
47. *Ibid.*, 2 October 1945.
48. H.S. Bhatia and S.R. Bakshi (eds.), *Political Ideology of the Sikhs*, Deep and Deep Publisher, New Delhi, 2000, p. 219.
49. *The Tribune*, 13 October 1945; *The Indian Annual Register*, Vol. II, 1945, 169.
50. *The Tribune*, 14 November 1945; *The Indian Annual Register*, Vol. II, 1945, 170.
51. *Akali*, 10 October 1945.
52. *Ibid.*, 30 August 1945.
53. *The Indian Annual Register*, Vol. II, 1945, p. 169.
54. *The Tribune*, 4 September 1945.
55. Fortnightly Reports for the Punjab for the second half of July 1945: *Home Political*, File No. 18/7/45-Poll (1).
56. File No. 79/46, Vol. (I), *Home Department Political*, NAI. *Fateh*, 24 January 1946. Nicholas Mansergh (ed.), *The Transfer of Power*, Vol. VI, p. 1232.
57. TG Jacob (ed.), *National Question in India: CPI Documents, 1942-47*, Odyssey Press, New Delhi, 1988, p.146.
58. *Prem Sandesh*, 12 December 1945.
59. Raghbir Singh, *Akali Movement (1926-1947)*, Omosons Publications, New Delhi, 1997, p. 101.
60. *Home Department Political (I)*, File No. 79/46.
61. *The Tribune*, 25 November 1945.

62. *Ibid.*, 1 December 1945.
63. *Ibid.*, 25 November 1945.
64. *Ibid.,* 3 December 1945.
65. *The Civil and Military Gazette*, 7 February 1946.
66. K.C. Yadav, *Elections in Panjab (1920-47*), Manohar, New Delhi, 1987, pp. 34-35.
67. *Home Department Political* (1), File No. 79/46, Vol. I.
68. K.C. Yadav, *Elections in Panjab (1920-47*), pp. 34-35.
69. *Prem Sandesh*, 12 December 1945.

**Dr. Baljit Singh Virk**
G.H.G. Khalsa College
Gurusar Sadhar (Ldh.)
singhbaljit08@gmail.com

❑❑❑

# जाटों की उत्पत्ति का इण्डो-सीथियन सिद्धांत : एक आलोचनात्मक अध्ययन

● डॉ. कुलराज व्यास

जाट जाति राजस्थान ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारत में संख्यात्मक व फैलाव की दृष्टि से प्रमुख स्थान पर है। इसके व्यापक विस्तार का सीमांकन उत्तर में हिमालय के नीचे की पर्वत श्रृंखला से होता है और पश्चिम में सिंधु नदी से : दक्षिण में हैदराबाद से शुरू होकर अजमेर और फिर भोपाल तक फैला है, तथा पूर्व में गंगा नदी उसके सीमांतों को प्रदर्शित करती है। दूसरे शब्दों में, अगर जाट जाति की व्यापक संरचना को स्पष्ट किया जाए तो वह एक पंखे के आकार की जैसी है जिसका आधार सिंध में है। सिंधु नदी के उस पार भी पेशावर, बलूचिस्तान, यहां तक कि सुलेमान पर्वतमाला के पश्चिम में भी हमें जहाँ-तहाँ जाट मिल जाते हैं। पंजाब, सिंध, राजस्थान तथा गंगा के दोआब के पश्चिम भाग में इस जाति के द्वारा कृषक बिरादरियों की रीढ़ की हड्डी की रचना होती है। 13वीं शताब्दी तक जाट एक सुसंगठित लोग थे उनमें रक्त, भाषा और धर्म की एकता पाई जाती थी परंतु अब उनमें एक तिहाई मुसलमान हैं, बीस प्रतिशत सिख हैं और शेष हिंदू हैं। परंतु जाट चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान या सिख, वह आखिर जाट है, वह मजबूती के साथ अपनी पुरानी जाति के नाम के साथ उसे अपना गौरवपूर्ण उत्तराधिकार मानकर उससे जुड़ा रहता है और उसके साथ रक्त संबंध की परंपरा चलती रहती है।

## जाटों की उत्पत्ति का इण्डो-सीथियन सिद्धांत

इण्डो-सीथियन सिद्धांत उन महान विद्वानों के नाम के साथ जुड़ा हुआ है, जो भारतीय इतिहास एवं मानव जाति-विज्ञान के क्षेत्र में अत्यधिक ख्याति प्राप्त हैं। इस सिद्धांत के प्रारम्भिक समर्थक विद्वान विंसेंट स्मिथ ने लिखा है, जब छठी शताब्दी के बहुसंख्यक कबायली झुंड वाले, इण्डो-सीथियन, गुर्जर और हूण स्थापित हो गए तो उनके राज परिवारों को राजपूतों के रूप में मान्यता दे दी

गई, जबकि उन लोगों को जिन्होंने कृषि को रोजगार के रूप में अपनाया वे जाट कहलाए।[2] एक दूसरे स्थान पर स्मिथ ने लिखा है कि, इस बात पर विश्वास करने का कारण है कि जाट भारत में गुर्जरों के बाद आए, शायद लगभग उसी समय।[3] भारतीय विद्वानों में सर जदुनाथ सरकार ने प्रमुख रूप से जाटों के विदेशी उत्पत्ति के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। उन्होंने जाटों को सीथों आर्यन कुनबे से संबंधित बताया है।[4]

विदेशी नामों में जाट जैसे शब्द मिलते हैं यूरोप में जैसे गाथ, गेटी, जेटी। चीन में यूची, यूली ऐसे नाम हैं जो स्वर में जाट शब्द के समान हैं। ऐसे शब्दों की समानता का आधार देखकर इतिहासकारों ने जाटों को मंगोलियन और सिथीयनों का उत्तराधिकारी बताया है। उक्त मत का उल्लेख उपेंद्रनाथ शर्मा द्वारा लिखित 'जाटों का इतिहास' में भी मिलता है। शर्मा ने अपनी पुस्तक में कई इतिहासकारों का उद्धरण देते हुए लिखा है कि, भारतीय सीमाओं का भौगोलिक अंग होने के बाद ही भारतीय आर्य जाति के प्रतिनिधियों के शकद्वीप (सिन्धु पंचनद प्रदेश) में जाकर बसने के कारण ही उन्हें विदेशी शक अथवा इन्डो-सिथियन (भारतीय शक) प्रमाणित करने का प्रयास किया है।[5]

## इण्डो-सीथियन सिद्धांत की आलोचना

विदेशी इतिहासकारों ने जिनमें सर हेनरी इलियट प्रमुख हैं, इन्होंने इसके अतिरिक्त अन्य जातियों की पहचान के लिए कई साधन निकाले हैं, इनमें से दो मुख्य है —

(1) शारीरिक बनावट

(2) भाषा-विज्ञान

शरीर-शास्त्र के साधनों से अन्वेषकों ने मनुष्य को पांच भागों में विभक्त कर दिया है —

(1) आर्य (2) मंगोलियन (3) मलय (4) हब्शी (5) अमेरिकन।[6]

जाटों की शारीरिक संरचना को अन्य विदेशी जातियों से मिलाते हुए कई इतिहासकारों ने इनको विदेशी स्वीकार किया है। परंतु, शोध में प्रकृति के साथ पूर्ववर्ती प्रजातियों की धारणाओं एवं नृतत्वशास्त्र विधियों में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है जो तथ्य पूर्व में सिद्ध किए जा चुके थे अब उनके सम्बन्ध में इन नई विधियों के कारण नई शंकाएं उत्पन्न हुई हैं। आर्यन तथा सीथियन को जाट-जाति से संबंधित करने वाला दृष्टिकोण अब आलोचित हो रहा है।

मानव संरचना एवं भाषा-विज्ञान के अनुसार जातियों को पहचानने की जो व्यवस्था है, इसके अनुसार भी जाट आर्य ही नजर आते हैं। सर हेनरी एम. इलियट ने *डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ द रेसेज ऑफ द नॉर्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज ऑफ इंडिया* में कहा है कि —कराची से पेशावर तक जाट शेष जातियों से पृथक नहीं हैं। भाषा से जो अर्थ निकाला गया है वह उनके आर्य होने के पक्ष में एक जोरदार तर्क है। यदि वे सीथियन हैं तो सीथियन भाषा कहां लुप्त हो गई? चूंकि इस क्षेत्र में जाटों की भाषा में किसी भी प्रकार का सीथियन होने का प्रमाण नहीं मिलता।[7]

इण्डो-सीथियन सिद्धांत के विरुद्ध निम्न तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं —

(1) कर्नल टॉड ने 409 ई. के एक जाट राज-परिवार के अस्तित्व के संबंध में एक शिलालेखीय साक्ष्य दिया है।[8]

(2) राजपूत एवं जाट की पारंपरिक शत्रुता से यह बात अत्यन्त सन्देहपूर्ण लगती है कि यदि उन्होंने भारत में कहीं बाहर से प्रवेश किया तो वे यहाँ साथियों के रूप में आए, परंतु बाद में वे दो विरोधी गुटों में विभक्त हो गए। हम सर्वत्र यह पाते हैं कि भूमि के आरम्भिक स्वामी जाटों से नये राजपूत प्रवासियों ने भूमि छीनी। परमारों ने जाटों को मालवा से बेदखल किया और तोमरों ने उनसे दिल्ली छीन ली।[9] राठौड़ों ने बीकानेर से उनको भगा दिया और भाटियों ने जैसलमेर में उन पर अपना नियंत्रण स्थापित कर दिया।

(3) सीथियन जो संभवत कद में छोटे और मजबूत होते थे, जिनके चेहरे चौड़े और ठोडी ऊंची होती थी, वे लंबे सिर वाले जाटों के पूर्वज नहीं हो सकते।

(4) इण्डो-सीथियन सिद्धांत के जोशीले समर्थकों ने एक बड़ी भूल यह की है कि उन्होंने उन लोगों के देशांतरण की दिशा की उपेक्षा की है जो अपने को आज जाट कहते हैं। पंजाब के सभी जाट कबीलों की परंपरा[10], जिसमें डेरा गाजी खान के अभारतीय बब्बर जाट भी शामिल हैं, यह बताती है कि पूर्व अथवा दक्षिण पूर्व-अवध, राजपुताना अथवा मध्य भारत उनका मूल आवास स्थान था। यदि लोक कथाओं का कुछ अर्थ है तो उनसे यह संकेत मिलता है कि वे मूलतः भारतीय आर्य थे जो पूर्व से पश्चिम की ओर आए थे इन्डो-सीथियन नहीं जिन्होंने अक्सास घाटी से इस देश में प्रवेश किया। निःसन्देह, जाटों के एक समूह ने जैसलमेर के भाटी राजपूतों के साथ देशान्तरण किया तथा कई शताब्दियों के बाद उन्हें फारस के सीमान्तों से भगाकर सिंधु नदी के पूर्व में

धकेल दिया गया। परंतु केवल इसी आधार पर उनको विदेशी आक्रमणकारी नहीं कहा जा सकता। संभवतः ऐतिहासिक साक्ष्य के नियमों के विरुद्ध जाटों की पहचान गेटे, यूची, गाथ अथवा अन्य इन्डो-सीथियन लोगों के साथ इसलिए नहीं की जा सकती क्योंकि उनके नामों के बीच साम्य है यद्यपि भाषा-विज्ञान एवं नृजाति-विज्ञान इस निष्कर्ष के विरुद्ध है। यदु जाति के वंश वृक्ष में जाटों के स्थान की खोज करना भी निरर्थक है, क्योंकि स्वयं यदु जाति की उत्पत्ति भी संदेह से परे नहीं है।

कर्नल टॉड ने राटासे, चीनीयों तथा चंद्रवंशीय आदि क्षत्रियों के उद्‌भव का एक स्रोत सिद्ध करने का प्रयास किया है। ऐसा करने के लिए उन्होंने इन तीनों जातियों के वंशवृक्षों तथा उनकी व्युत्पत्ति से संबद्ध लोक कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है। विल्सन को, जिसके अनुसार पुराण 1045 ई. से पहले के नहीं है, यह संदेह था कि हिंदुओं के हयाओं तथा हैहेयों का हिआ से कुछ संबंध था जिनका चीन के इतिहास में उल्लेख होता है--परंतु हैहयों के सीथियन उद्‌भव को प्रमाणित करने वाला साक्ष्य खोजना असंभव नहीं है, जैसा कर्नल टॉड का विश्वास था।

सभी राष्ट्रों के इतिहास में ऐसे लोगों की कमी नहीं रही है जिन्होंने कल्पना के आधार पर व्यक्तियों एवम् जातियों के वंश-वृक्षों की रचना कर दी है। परन्तु इसके पीछे प्रयोजन क्या है? प्रथम, कोई सफल मनुष्य, जो कल अकिंचन था अथवा कम ख्याति प्राप्त कबीला, जिसका भूत उज्ज्वल नहीं रहा और वह यकायक महत्वपूर्ण बन जाये, उसे अपने वर्तमान को उज्ज्वल तथा भविष्य को समुज्वलतर सिद्ध करने के लिए किसी समीचीन पृष्ठभूमि की आवश्यकता होती है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह एक काल्पनिक श्रेष्ठता की रचना कर लेता है। द्वितीय, लोग अपनी वंश-परंपरा को अपने द्वारा अंगीकृत नए धर्म के साथ अथवा अपने से अधिक शक्तिशाली अथवा अधिक सभ्य पड़ोसीयों के साथ जोड़ लेते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण अरब के बाहर रहने वाले मुसलमानों का है। अफगानिस्तान के अनेक कबीले, जो महमूद गजनवी के समय तक मूर्ति पूजा करने वाले बौद्ध थे, अब वे स्वयं को पैगंबर के प्रख्यात समकालीन खालिद का वंशज होने का दावा करते हैं। बौद्ध धर्म से परिवर्तित तुर्कों ने भी इस्लाम को स्वीकार करने के बाद अरब परंपराओं में अपने को ढालने के लिए इसी प्रकार के परिवर्तन किए थे। यह भी सर्वविदित है कि इस्लाम को स्वीकार करने वाले भारतीयों ने अपनी शेख और सैयद व्युत्पत्ति का दावा सिद्ध करने के लिए हास्यास्पद दावे प्रस्तुत किए थे। जो स्थिति अरब से

बाहर रहने वाले मुसलमानों के लिए अरब की थी, वही स्थिति ईसा के जन्म से पूर्व मध्य-पूर्व और पूर्व के देशों में रहने वाले बौद्धों के लिए भारत की थी। यह इतिहास का एक जाना-पहचाना तथ्य है कि चीन और टारटरी में बौद्ध धर्म को भारतीय धर्म-प्रचारकों ने पहुँचाया था। किसी हिन्दू ने अपनी चीनी व्युत्पत्ति का दावा नहीं किया है, परन्तु जैसा सर विलियम जोन्स[11] ने बताया है, चीन के लोग अपनी हिन्दू वंश-परम्परा का दावा करते हैं।

इण्डो-सीथियन सिद्धांत के प्रतिपादकों को ईमानदारी से यह बात स्वीकार करनी चाहिए कि यदि मध्य-एशिया के गैटे किसी प्रकार आर्यन जदु अथवा जाट बन गए, तो उल्टी प्रक्रिया से भारतीय जदु को भी मध्य एशिया में गैटे बन जाना चाहिए था। दारा द्वारा सिंधु घाटी की विजय के समय से लेकर मौर्य साम्राज्य के विघटन के समय तक (600 ई. पूर्व से लेकर 200 ई. पूर्व तक) भारतीय कबीलों का एशिया के अन्य भागों में देशांतर का सिलसिला बराबर बना रहा। जिस प्रकार अंग्रेज सरकार ने गोरखा और सिख वेतनभोगी सैनिकों को अपने भारतीय साम्राज्य के विभिन्न भागों में, विशेषतया बर्मा में अपनी बस्तियों को स्थापित करने के लिए प्रोत्साहन दिया तथा जिस प्रकार कुछ शताब्दियों पूर्व रूसी सरकार ने मजबूत और युद्ध-प्रिय तातार कज्जाकों को डॉन नदी के आस-पास तथा अपने साम्राज्य के अन्य खुले हुए स्थानों पर बसाया, उसी प्रकार भारतीय वेतनभोगी सैनिकों को अथवा जिनकी भर्ती बलपूर्वक की गई थी तथा जिन्होंने मैराथन तथा थर्मोपोली के समय से फारस के साम्राज्य की सेवा की थी उन्हें कृष्ण सागर के तट पर बसाया गया और उन्हें वहां सिंधी अथवा कटकटे के नाम से जाना गया।[12] यह माना जा सकता है कि कुछ भारतीयों को कृष्ण सागर के तट पर बसाया गया होगा, यह भी संभव हो सकता है कि वे वेतनभोगी हों और उनको साम्राज्य विस्तार, रक्षा तथा प्रभाव के स्थापना की दृष्टि से बसाया गया था तो लौटकर आने पर भी विदेशी कैसे हो गए, अछूत कैसे बन गए।

आज यदि अमेरिका, इंग्लैंड और जापान में बसे भारतीय लोगों की संतान भारत लौट कर आती है तो वे विदेशी नहीं हो जाते? सैनिक सेवा के अलावा, व्यापार के कारण भी भारतवासी विभिन्न देशों में गए। देशांतरण को सबसे अधिक प्रोत्साहन मौर्य साम्राज्य के हिंदूकुश पर्वत तक विस्तार के कारण प्राप्त हुआ, इसके उपरांत समूचे मध्य एशिया और चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार से भी इसमें वृद्धि हुई। तुर्किस्तान का तेजी के साथ भारतीयकरण हुआ, जैसा फाह्यान तथा अन्य चीनी यात्रियों ने, जो इस क्षेत्र से होकर निकले थे, बताया है, वह

मुट्ठीभर धर्म-प्रचारकों के द्वारा नहीं हो सकता था, उसमें भारतीय व्यापारी तथा वेतन भोगी सैनिकों की भी संभवत एक महत्वपूर्ण भूमिका थी। जिस प्रकार इस्लाम के प्रचारक के साथ मुसलमानों में अरब अप्रवासी स्वागत योग्य था, उसी प्रकार उन देशों में जहाँ बौद्ध धर्म को कुछ समय पूर्व ही स्वीकार किया गया था, वहाँ भारतवासी को भी वही सम्मान प्राप्त था। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मध्य एशिया के बौद्ध राज्यों तथा मध्य-पूर्व के यूनानी राज्यों में भारतीयों के देशांतरण को उसी प्रकार की नीति के अधीन प्रोत्साहन दिया जाता था जिस प्रकार की नीति रूस के पीटर महान ने अपनाई थी और जिसके अनुसार सामंतों की भर्ती जर्मनों में से की जाती थी तथा पश्चिमी यूरोप के कारीगरों के देशांतरण को इसलिए प्रोत्साहित किया जाता था ताकि प्राच्यरूप का पश्चिमीकरण किया जा सके और इस मामले में पहल रूढ़ि-विरोधी एवं उद्यमी यदुओं ने की जिनकी संख्या में द्रुत गति से वृद्धि हुई और जिन्होंने पंजाब के कबीलों में अनेक देहाती तत्वों को आत्मसात कर लिया। यदु जाति के लोगों का भारत से देशान्तरण हुआ, इस तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि जैसलमेर के भाटी राजपूतों ने इस्लाम के आगमन तक बलूचिस्तान पर शासन किया था।

अपनी विदेशी बस्तियों में यदुओं के केवल भट्टियों जैसे कुलीन भाग ने अपने खून में कोई मिलावट नहीं होने दी, परंतु आम लोगों ने स्वच्छंदतापूर्वक टारटरी की विजातियों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किए तथा तुर्की-भाषी लोगों को जन्म दिया। अलबरूनी ने एक तुर्की कबीले का उल्लेख किया है जिसका भारतीय नाम भट्टावर्यन असंदिग्ध है। मध्य एशिया के दो अन्य कबीले जिन्हें जाटों का पूर्वज माना गया है, वे हैं दाहे (DAHAE) तथा मासागेटे (बड़ा दरवाजा) जो कैस्पियन सागर की पूर्वी तट पर बसे हैं। कहा जाता है कि दाहे वही लोग हैं जिन्हें विष्णु पुराण में दाहा कहा गया है[13] और जो आज दहिया के नाम से जाने जाते हैं यह केवल सुझाव है इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है, इनमें केवल ध्वनि की समानता है। इसी आधार पर कैस्पियन के दाहे को यदुओं की एक शाखा माना जा सकता है क्योंकि महाभारत काल में इनका कबायली नाम दशाई था जिसे सुगमतापूर्वक दहाई[14] में परिवर्तित किया जा सकता है।

यह भी कहा जा सकता है कि जाटों को 'सुस', 'अवर' और अनेक नाम दिए गए हैं। सत्य यह नहीं है कि जाटों ने सु-साक अथवा अभीर नामों को अंगीकृत किया, परंतु इन नामों को धारण करने वालों ने अपने से अधिक सम्मानित श्रेष्ठ लोगों का नाम स्वयं धारण कर लिया। आगे हम यह भी देखते हैं

कि बैक्ट्रिया और जिहून में बसे यूचियों ने अंत में जेटा और येतान (यानी गेटे) का नाम स्वीकार कर लिया।

## निष्कर्ष

अन्ततः इन विजेता कबीलों यथा-शक, यूची, हूण तथा तुर्की लोगों के लिए गेटे तथा भट्टावर्यन नामों में क्या आकर्षण था? इससे इस संदेह की पुष्टि होती है कि श्रेष्ठ रक्त और उच्चतर सभ्यता के साथ जुड़े हुए नाम में अधिक आकर्षण होता है, मध्य एशिया के इन कबीलों को इनमें वही आकर्षण था जो भारत के हिंदू युद्ध-प्रिय कबीलों को राजपूत नाम में था। भारतीय आर्यों के ये वंशज जो आक्सास नदी और कृष्ण सागर के तट पर बसे थे। उनका आर्यों के देश के साथ वही संबंध था जो सुदूर फिजी और अफ्रीका के जंगलों में बसे आधुनिक भारतीय अप्रवासियों का हमारे साथ है। एक या दो शताब्दी के बाद उनकी भारतीय राष्ट्रीयता की शायद पहचान भी ना हो सके, क्योंकि तब तक रक्त, धर्म और भाषा जो उनकी पहचान को अभी बनाए हुए हैं, वह सब तब तक ऐसे मिल चुके होंगे कि उनका कोई पृथक चिन्ह शेष ही न रहेगा।

## सन्दर्भ


1. हर्बर्ट एच. रिसले, द *पीपुल ऑफ इण्डिया*, एशियन एजूकेशन सर्विस, कलकत्ता, 1908, पृ. 8
2. *जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी*, कलकत्ता, 1899, पृ.534
3. वही, 1909, पृ. 63
4. यदुनाथ सरकार, *फॉल ऑफ द मुगल एम्पायर*, खंड-2, ओरिएंट ब्लैक स्वान, दिल्ली, पृ. 306
5. उपेन्द्र नाथ शर्मा, *जाटों का नवीन इतिहास*, प्रथम संस्करण, दिल्ली, 1949, पृ. 1
6. देशराज जघीना, *जाट इतिहास*, (संपा.) नत्थन सिंह, प्रथम संस्करण, महाराजा सूरजमल स्मारक शिक्षा संस्थान, दिल्ली, 1934, पृ. 59
7. वही, पृ. 62
8. जेम्स टॉड, *एनल्स एण्ड एन्टिक्विटिज ऑफ राजस्थान*, सम्पादक विलियम क्रुक, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनमुद्रण, 1994, पृ. 128
9. यह असंभव नहीं है कि इस प्रसिद्ध नगर का नाम दिल्ली जाटों के नाम के साथ जुड़ा हो, जो अभी भी दिल्ली में बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। लोक निरुक्ति ढिल्लों को ढीला अथवा आलसी के साथ जोड़ती है।

10. एच.ए. रोज, *पंजाब ग्लॉसरी : ए ग्लोसरी ऑफ द ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ द पंजाब एंड नार्थ-वेस्ट फ्रंटियर प्रोविंसेज*, गवर्नमेंट प्रिंटिंग प्रेस, लाहौर,भाग-II, 1911, पृ. 56,472, भाग-III, पृ. 56

11. जेम्स टॉड, *एनल्स एण्ड एन्टिक्विटिज ऑफ राजस्थान*, भाग-1, पृ. 169 पर लिखा है कि मंगोल तथा हिन्दू परम्परा की तुलना का कोई महत्व नहीं है।

12. *ईलियट एण्ड डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इंडिया एज टोल्ड बाय इट्स ओन हिस्टोरियंस*, भाग-3, दिल्ली, 2008, पृ. 518

13. द *विष्णु पुराण*, (संपा.) एच.एच. विल्सन, द क्रिस्चियन लिटरेचर सोसाइटी, मद्रास, 1895,पृ. 192

14. *महाभारत*, सभापर्व, अध्याय 39; भीष्मपर्व, अध्याय 8; वनपर्व, पृ.183, अनुवादित एस. द्विवेदी, भाग-10, पृ. 288, गीताप्रेस, गोरखपुर

**डॉ. कुलराज व्यास**
सहायक प्राध्यापक
शिक्षा संकाय, आई. ए. एस. ई. मानित विश्वविद्यालय
सरदारशहर (चूरू), राजस्थान

❑❑❑

# भक्त कवि बारहठ ईसरदास को राज्य द्वारा प्राप्त सम्मान एवं राजकीय कार्यों में उनका योगदान

● डॉ. शेफालिका पालावत

'ईसरा परमेसरा' की लोक-उपाधि से विख्यात भक्त कवि बारहठ ईसरदास मध्यकालीन भक्त कवियों में अग्रगण्य हैं। अवधी और ब्रज भाषा के प्रभाव-क्षेत्र में, जो स्थान राम-भक्त गोस्वामी तुलसीदास और कृष्ण-भक्त सूरदास का है, वही स्थान राजस्थान, गुजरात, कच्छ, सिंध, थाट और थारपारकर में भक्त शिरोमणि ईसरदास का है। आर्तजनों के दुःख निवारणार्थ इनके द्वारा अनेक अप्रतिम कार्यों का सम्पादन हुआ जिसके फलस्वरूप इनका विरूद् 'ईसरा परमेसरा' (ईसरदास परमेश्वर-स्वरूप है) प्रसिद्ध हुआ। ऐसा गौरवपूर्ण विरुद् अद्यावधि किसी भी भक्त कवि को प्राप्त नहीं हो सका है।[1]

## वंश-परम्परा

ईसरदास का जन्म अप्रतिम साहित्यिक अवदान के लिए विश्व-विश्रुत राजस्थान की चारण जाति में हुआ था। डिंगल भाषा, काव्य-पद्धति एवं काव्य-सरंचना को प्रारम्भ से ही अपनाते हुए चारणों ने निरन्तर इस साहित्य-लता का सिंचन किया एवं अपनी लेखनी से सर्वत्र पहुँचाया। इसी कारण चारण समाज राजस्थानी साहित्य के पर्याय के रूप में व्यवहृत होता है।[2] राजपुताना की सामाजिक सरंचना में चारणों को राजपूतों और ब्राह्मणों के मध्यवर्ती स्थिति प्राप्त थी तथा उनकी चरित्रगत विशेषताओं में ब्राह्मणों और राजपूतों दोनों के गुण विद्यमान थे। राजपूतों के समान वे शाक्त मतावलम्बी थे।[3]

चारण जाति की अग्रगण्य शाखा के रूप में रोहड़िया शाखा चिर-वरेण्य रही है। चन्द की वंश-परम्परा में पुनसी (पुण्यसी) हुए जिनसे 'पुनसी' शाखा चली तथा पुनसी को मालाणी के तत्कालीन राठौड़ शासक राव मल्लीनाथ से बाड़मेर के समीप 'भादरेस' गाँव जागीर में प्राप्त हुआ। पुनसी के पुत्र ऊदा तथा

ऊदा के पुत्र सूरा हुए, जिनका विवाह गाडण शाखा में जन्मी अमरबाई से हुआ। इन्हीं सूरा एवं अमरबाई के पुत्र स्वनामधन्य भक्त कवि ईसरदास हुए।[4]

## ईसरदास का जन्म-समय

बाड़मेर के समीपस्थ भादरेस में ईसरदास के जन्म के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं जिनमें प्रथम मतानुसार उनका जन्म वि.सं. 1595/1528 ई. तथा द्वितीय मतानुसार उनका जन्म वि.सं. 1515/1458 ई. में हुआ था जिनके अभिव्यंजक दोहे प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

## प्रथम मत-वि.सं. 1595/1528 ई.

*पन्द्रह सौ पच्चानवे, जनम्या ईसरदास।*
*चारण वरण चकार में, उण दिन हुयो उजास।।*

## द्वितीय मत-वि.सं. 1515/1458 ई.

*पन्द्रह सौ पनरोत्तरै, जनम्या ईसरदास।*
*चारण वरण चकार में, उण दिन हुयो उजास।।*

उक्त दोनों मतों का परीक्षण ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में करना आवश्यक है। बारहठ ईसरदास के जीवनकाल से सम्बन्धित निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य उनके पितृव्य आसानन्द का मारवाड़ के शासक राव मालदेव (1531 ई.-1562 ई.) की रानी उमादे भटियाणी को परामर्श देने से सम्बन्धित है। उमादे भटियाणी, जो इतिहास में 'रूठी रानी' के नाम से प्रसिद्ध है, आजन्म मालदेव से रूठी रही। 1562 ई. में मालदेव के निधनोपरान्त इसने सतीत्व का वरण किया। इसी रूठी रानी पर बारहठ आसानन्द ने 'उमादे रा' कवित्त नाम से प्रसिद्ध काव्य-रचना का प्रणयन किया। मालदेव के संदेशवाहकों द्वारा उमादे भटियाणी को पुनः विनयपूर्वक आमंत्रित करने पर आसानन्द द्वारा परामर्श-स्वरूप कहा गया निम्न दोहा प्रसिद्ध है :

*मान रखे तो पीव तज, पीव रखे तज मान।*
*दो दो गयन्द न बन्धही, एकै खंभू ठांण।।*

सन् 1562 ई. में मालदेव के निधन के पश्चात् भी बारहठ आसानन्द अनेक वर्षों तक जीवित रहे थे। बारहठ ईसरदास का जन्म यदि सन् 1458 ई. में निश्चित किया जाता है तो सन् 1562 ई. में मालदेव के निधन के समय ईसरदास की आयु 104 वर्ष तथा उनके पितृव्य बारहठ आसानन्द की आयु उससे भी अधिक 136 वर्ष होती है क्योंकि आसानन्द आयु में ईसरदास से

32 वर्ष बड़े थे। आसानन्द का निधन सन् 1576 ई. में हुआ था। सन् 1458 ई. में ईसरदास का जन्म निश्चित करने पर निधन के समय आसानन्द की आयु 150 वर्ष होनी चाहिए जो सम्भव नहीं है। ईसरदास का निधन 80 वर्ष की आयु में हुआ था तथा उनके निधन के पूर्व ही उनके पितृव्य आसानन्द का निधन हो चुका था। उक्त ऐतिहासिक घटना से यही सिद्ध होता है कि संवत् 1515 विक्रमी (सन् 1458 ई.) में ईसरदास का जन्म सम्भव नहीं है।[5] इस प्रकार ईसरदास का जन्म संवत् 1595 विक्रमी (सन् 1538 ई.) में निश्चित होता है जिसके आधार पर सन् 1562 ई. में मालदेव के निधन के समय उनकी आयु 24 वर्ष तथा उनके पितृव्य आसानन्द की आयु 56 वर्ष थी।

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि राजस्थान में ईसरदास का जन्म संवत् 1595 विक्रमी में होने से सम्बन्धित मत प्रचलित है जबकि कच्छ एवं सौराष्ट्र में प्रचलित मत के अनुसार उनका जन्म संवत् 1515 विक्रमी में हुआ था। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सौराष्ट्र में प्रचलित संवत् की कालगणना 80 वर्ष पूर्व की है।

ईसरदास की जन्म तिथि के सम्बन्ध में श्रावण शुक्ला द्वितीया एवं श्रावण शुक्ला नवमी से सम्बन्धित दो मत प्रचलित हैं। उनका जन्म दिवस शुक्रवार था। भारतीय कालगणना के अनुसार संवत् 1595 विक्रमी को श्रावण शुक्ला नवमी के दिन शुक्रवार था। उक्त विवेचन से शोधकर्त्री के मतानुसार इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि बारहठ ईसरदास का जन्म श्रावण शुक्ला नवमी, शुक्रवार, संवत् 1595 विक्रमी (सन् 1538 ई.) को हुआ था।

## विद्याध्ययन

शैशव से ही ईसरदास में होनहार, प्रतिभावान एवं प्रखर बुद्धियुक्त बालक के लक्षण परिलक्षित होने लग गये थे। तत्कालीन मारवाड़ एवं राजस्थान की अन्य रियासतों में शिक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं थी। ब्राह्मण, चारण एवं कतिपय राजपूत परिवारों में ही परम्परागत शिक्षा का प्रचलन था। इनमें भी काव्य-रचना जैसी उच्च-स्तरीय शिक्षा गम्भीर प्रकृति के प्रतिभावान विद्यार्थी ही ग्रहण कर पाते थे।

माता-पिता के सान्निध्य में ईसरदास का शैशव व्यतीत हुआ। उनकी आयु के द्वादश वर्ष व्यतीत होने पर उनके माता-पिता का निधन हो गया जिससे उनके पितृव्य आसानन्द पर उनके लालन-पालन का उत्तरदायित्व आ गया। आसानन्द डिंगल साहित्य के विद्वान, काव्य-शास्त्र के ज्ञाता एवं प्रख्यात कवि थे। उन्होंने ईसरदास की प्रखर बुद्धि एवं प्रतिभा को दृष्टिगत रखते हुए उन्हें पुराण, इतिहास,

भगवद्गीता आदि ग्रंथों का अध्ययन करवाया तथा प्रारम्भिक शिक्षा के साथ-साथ काव्य-रचना में भी कुशल बनाया। किशोरावस्था में ही लगभग पन्द्रह-सोलह वर्ष की आयु में वे काव्य-रचना में निष्णात हो गये थे।[6]

ईसरदास द्वारका की यात्रा से लौटते समय कच्छ स्थित बारा राज्य के राजा के यहाँ विश्राम किया और यही राजा लाखा धवलोत के राजपंडित पीताम्बर भट्ट का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया तथा उनका झुकाव आध्यात्मिकता की ओर होने लगा।

ईसरदास का अधिकांश समय अपने गुरु पीताम्बर भट्ट के साथ ईश्वरीय ज्ञान एवं भक्ति-चर्चा में व्यतीत होने लगा। गुरु के परामर्श से उन्होंने वेदों, पुराणों, शास्त्रों, आर्ष महाकाव्यों आदि का गहन अध्ययन किया। सिद्धपुर ज्ञानपीठ में उन्होंने साधु-संतो के सान्निध्य में भी विद्याध्ययन किया। इस प्रकार विपुल ज्ञानार्जन के आधार पर उन्होंने भक्ति-परक रचनाओं का प्रणयन किया।[7] भगवद्भक्ति-रस एवं भागवत-रहस्य को समझाने में गुरु के महत्त्व को 'हरिरस' के प्रारम्भ में ही स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा है —

*लागूँ हौ पहलै लुळै, पीताम्बर गुरु पाँव।*
*भेद महारस भागवत, पायौ जैण पसाव।।*

## विवाह एवं संतति

चारणों के झाँपली गाँव के झीबा शाखा के चारण भैरवदान की पुत्री देवल बाई के साथ उनका सम्बन्ध निश्चित हुआ तथा सत्रह वर्ष की आयु में वि.सं. 1612/1555 ई. की कार्तिक शुक्ला एकादशी (देवोत्थान एकादशी) को उनका विवाह सम्पन्न हुआ।

विवाह के दो वर्ष पश्चात् वि.सं. 1614/1557 ई. में उनके प्रथम पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम जागा रखा गया। दो वर्ष पश्चात् वि.सं. 1616/1559 ई. को उनके द्वितीय पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम चूण्डा उर्फ चान्दा रखा गया।

ईसरदास के विवाह को अभी पाँच वर्ष ही हुए थे कि दैव-दुर्विपाक से वृश्चिक-दंश के फलस्वरूप उनकी धर्मसंगिनी देवल बाई का निधन हो गया। एकाएक हुए इस अनभ्र वज्रपात से ईसरदास अर्ध-विक्षिप्त से हो गये।

ईसरदास की उन्माद-ग्रस्त स्थिति को देखकर उनके पितृव्य आसानन्द विचलित हो उठे। उन्हें लगा कि ईसरदास कहीं पूर्ण विक्षिप्त नहीं हो जायें। अतः उन्होंने ईसरदास के पत्नी-वियोग को विस्मृत कराने हेतु सोरठ (सौराष्ट्र) यात्रा

की योजना बनायी। आसानन्द के सौराष्ट्र-भ्रमण हेतु रखे गये प्रस्ताव को ईसरदास ने स्वीकार कर लिया।

सौराष्ट्र-यात्रा में उन्होंने गिरनार में गुरु बालकनाथ की धूनी (तपोस्थली) एवं द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन कर स्वयं को कृतार्थ किया। वहाँ से वे कच्छ स्थित जाम शासक लाखा धवलोत के राज्य बारा की लाखा फूलाणी द्वारा निर्मित राजधानी केराकोट में आये। केराकोट में वहाँ के राजपंडित पीताम्बर भट्ट को उन्होंने गुरु बनाया। तत्पश्चात् जाम शासक लाखा धवलोत द्वारा उन्हें राजकवि घोषित किया गया तथा वे युवराज रावल के राजगुरु भी नियुक्त किये गये। पितृव्य आसानन्द मारवाड़ में लौटने के इच्छुक थे, अतः वे जाम लाखा एवं ईसरदास से अनुमति लेकर मारवाड़ लौट आये परन्तु ईसरदास की कच्छ एवं सौराष्ट्र ही कर्मभूमि बनी रही।

रावल जाम के सहयोग से राजसी वैभव से ईसरदास का दूसरा विवाह राजबाई के साथ सम्पन्न हुआ। जाम रावल ने ईसरदास के परामर्शानुसार केराकोट के स्थान पर वि.सं. 1647/1590 ई. में हालार (सौराष्ट्र) के खंभालिया नामक स्थान पर नवीन जाम खंभालिया राज्य की स्थापना की जहाँ वि.सं. 1655/1598 ई. में राज्य द्वारा महाकवि ईसरदास की भव्य हवेली का निर्माण भी करवाया गया।

राजबाई से ईसरदास के तीन पुत्र हुए जिनके नाम क्रमशः काना, जेसा व गोपाल थे। उनकी अंतिम संतान पार्वती उर्फ पद्मा नामक पुत्री थी। इस प्रकार ईसरदास की संतति पाँच पुत्र एवं एक पुत्री थीं जिसमें दो पुत्र देवल से उत्पन्न तथा तीन पुत्र एवं एक पुत्री राजबाई से उत्पन्न थे।

## राज्य द्वारा प्राप्त सम्मान

ईसरदास को तत्कालीन शासकों ने उनकी साहित्य-साधना एवं स्पष्ट वक्तृत्व-कला से प्रभावित होकर अनेक राजकीय सम्मान प्रदान किए थे। इन शासकों में खंभालिया एवं नवानगर के रावल जाम, हलवद नरेश रायसिंह झाला, अमरेली के बजाजी सरवैया, कच्छ नरेश राजा भारमल एवं ध्रोल ठाकुर जसाजी प्रमुख हैं।

## जाम लाखण द्वारा राजकवि उपाधि एवं लाख पसाव

केराकोट की राज-सभा में पीताम्बर भट्ट ने जाम लाखण (लाखा) व युवराज रावल के सम्मुख ईसरदास के उच्चस्तरीय काव्य-कौशल का निरूपण किया। जाम रावल ने ईसरदास एवं उनके पितृव्य आसानन्द दोनों ही कवियों को उच्चस्तरीय सम्मान के प्रतीक स्वरूप *लाख पसाव* प्रदान किया। *पसाव* शब्द

*प्रसव* शब्द का अपभ्रंश है जहाँ *लाख पसाव* से आशय वह पुरस्कार है जिसमें एक लाख मुद्राओं की उत्पत्ति हो अर्थात् एक लाख मुद्राएँ पुरस्कार-स्वरूप दी जाती थीं। पुरस्कार में नकद मुद्राएँ, हाथी, अश्व एवं स्थायी राजस्व आय वाले गाँव दिये जाते थे जिन्हें मिलाकर एक लाख मुद्राओं के समान गणना की जाती थी।[8]

*लाख पसाव* देने के उपरान्त जाम लाखा ने ईसरदास को राजकवि घोषित किया। केराकोट में निवास हेतु उनके लिए हवेली का निर्माण करवाया गया। जाम लाखा राजकीय कार्यों में भी उनका परामर्श लेने लगे।

## जाम रावल द्वारा लाख पसाव, चड़ोपरी गाँव की जागीर व महाकविराज उपाधि

जाम रावल ने कच्छ के अन्य लघु राज्यों को अपने अधीन करने के उपरान्त स्वयं को कच्छ का छत्रपति महाराज घोषित कर लाखा फूलांणी द्वारा निर्मित केराकोट में भव्य दरबार का आयोजन किया। समारोह में उपस्थित कच्छ के अन्य शासकों द्वारा जाम रावल की अधीनता स्वीकार कर उन्हें नजर (भेंट) दी गई।

राजकवि ईसरदास ने इस अवसर पर काव्य-पाठ किया जिसकी सभी सभासदों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। रावल जाम ने उनके काव्यत्व की गरिमा के प्रतीक-स्वरूप महाकविराज की उपाधि से विभूषित करते हुए उन्हें लाख पसाव भेंट किया तथा जागीर में केराकोट से पाँच कोस (सोलह किलोमीटर) की दूरी पर रेवा नदी के तट पर स्थित चड़ोपरी गाँव प्रदान किया।[9]

## जाम रावल द्वारा करोड़ पसाव व सँचाणा गाँव की जागीर

जाम रावल ने ईसरदास के परामर्श के अनुसार खंभालिया के स्थान पर नवीन राजधानी के रूप में जामनगर (नवानगर) की स्थापना की। जाम रावल इस से पूर्व ही 'हरिरस' जैसे भक्तिपरक ग्रंथ की रचना हेतु ईसरदास को सम्मानित करने का मानस बना चुके थे। अतः नवीन राजधानी के स्थापना-समारोह में ईसरदास को सम्मानित करते हुए *करोड़ पसाव* भेंट किया तथा जागीर में संचाणा गाँव दिया। ईसरदास को *करोड़ पसाव* देने का उल्लेख मुहणोत नैणसी की ख्यात में निम्न प्रकार हुआ है—

*क्रोड़ पसाव ईसर कियो, दियो सँचाणा गाँव।*
*दाता सिरोमणि देखियो, जगसर रावल जाम।।*

बाँकीदास ने रावल जाम द्वारा ईसरदास को करोड़ पसाव देने का उल्लेख निम्नानुसार किया है—

*तै सौ लक्ख समपिया, रावल लालच छड्ड।*
*साँसण सँचाणै जिसा, जेथ हुवै जल हड्ड।।*

## राव खेंगार द्वारा लाख पसाव तथा वीर वदरका व हजनाली गाँवों की जागीर

ईसरदास के आशीर्वाद से कच्छ के राव खेंगार को पुत्र-प्राप्ति हुई। राव खेंगार इससे अत्यन्त प्रसन्न हुआ तथा उसने ईसरदास को लाख पसाव एवं जागीर में 'वीर वदरका' तथा 'हजनाली' गाँव भेंट किये। राव खेंगार द्वारा उक्त दोनों गाँव अपने पुत्र भारा (भारमल) के नाम से दिये गये थे जिसका उल्लेख निम्नानुसार हुआ है—

*वीराणो साँसण बड़ो, हजनाळी हद रूप।*
*साँसण दोनूं समपिया, कच्छ पतभारै भूप।।*[10]

## पुत्र जागा को हापा गाँव की जागीर

मिठायन के युद्ध में जाम रावल ने नाग, जेठवा एवं वाला वाघेला चौहान शासकों तथा जूनागढ़ के नवाब की सम्मिलित सेनाओं पर विजय प्राप्त की थी जिसमें ईसरदास के ज्येष्ठ पुत्र जागा और जागा के ज्येष्ठ पुत्र (ईसरदास के पौत्र) धूना ने वीरतापूर्वक भाग लिया था। रावल जाम ने ईसरदास सहित तीनों को पुरस्कृत करने का प्रस्ताव रखा जिसे ईसरदास ने स्वयं के लिए अस्वीकार करते हुए पुत्र एवं पौत्र के लिए स्वीकृति प्रदान कर दी। अतः रावल जाम ने जागा को जागीर में हापा गाँव प्रदान किया।[11]

## पौत्र धूना को ध्रोल शासक जसा द्वारा धूनाना गाँव की जागीर

मिठायन के युद्ध में जाम रावल के अनुज हरधौल वीरगति को प्राप्त हुए थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र जसा ने ध्रोल के शासक बनने पर मिठायन युद्ध में वीरता के लिये ईसरदास के पौत्र धूना को धूनाना गाँव जागीर में प्रदान किया।[12]

## जाम रावल द्वारा पुनः लाख पसाव एवं मकवाना गाँव की जागीर

ईसरदास के निर्णय को दृष्टिगत रखते हुए विजाजी सरवैया को अमरेली ठिकाना वापस दिलाने हेतु जाम रावल ने प्रयास प्रारम्भ किये तथा जूनागढ़ के

नवाब से उनका ठिकाना पुनः दिलवाया, जहाँ विजाजी सरवैया की वापसी हुई। तत्पश्चात् जाम रावल ने ईसरदास को पुनः लाख पसाव देते हुए मकवाना गाँव जागीर में दिया।

## विजाजी सरवैया द्वारा लाख पसाव

विजाजी सरवैया के पुत्र करण को जीवनदान देने एवं उसके विवाह के सानन्द सम्पन्न होने के पश्चात् विजाजी सरवैया ने ईसरदास को लाख पसाव देने का निर्णय किया। इस हेतु दरबार का आयोजन किया गया जिसमें सवा लाख मुद्राओं सहित ईसरदास को लाख पसाव दिया गया तथा जागीर में 'ईसरिया' एवं 'बरसड़ा' दो गाँव दिये गये।

उक्त विवेचन से यही प्रकट होता है कि तत्कालीन नरेशों ने बारहठ ईसरदास को जैसे सम्मान दिए हैं, वैसे सम्मान प्राप्त करने वाले विद्वान् एवं कवि विश्व-इतिहास में गिने-चुने ही हुए हैं। ऐसे कवि के कृतित्व को जन-साधारण से लेकर तत्कालीन शासकों तक शीर्षस्थ मान्यता प्राप्त हुई।

## राजकीय कार्यों में महत्त्वपूर्ण योगदान

जाम राज्य में ईसरदास का अधिकांश जीवन व्यतीत हुआ। जाम-शासक उनके परामर्श से महत्त्वपूर्ण राजकीय निर्णय लेते थे। कतिपय अन्य तत्कालीन नरेशों से भी उनका व्यक्तिगत सम्पर्क था, जिन्होंने उनके परामर्श से अनेक महत्त्वपूर्ण राजकीय कार्यों का सम्पादन किया।

## युवराज रावल को बारा व लखियार वियरा का शासन

बारा के शासक जाम लाखा वृद्ध हो चुके थे तथा राजकीय कार्य प्रमुखतः युवराज रावल द्वारा ही सम्पादित किया जाता था। अतः ईसरदास के परामर्शानुसार जाम लाखा ने अपने जीवन-काल में ही युवराज रावल को बारा व लखियार वियरा का जाम (शासक) घोषित कर दिया जिन्होंने उनके स्थान पर शासन करते हुए आमरण और गोडण राज्यों पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

## जाडेजा परिवार में कलह निवारण

जाम लाखा के निधनोपरान्त रावल जाम उनके उत्तराधिकारी हुए जिन्होंने केराकोट में महाराजाधिराज' की उपाधि धारण कर शासन-सूत्र का संचालन

प्रारम्भ किया। उनके विरुद्ध हबाय के शासक जाम खंगार ने गुजरात के शासक महमूद बेगड़ा की सहायता से आक्रमण कर दिया। जाम रावल एवं जाम खंगार दोनों ही जाडेजा वंश-परम्परा में निकटस्थ कुटुम्बी थे जिससे उनके मध्य पारस्परिक संघर्ष में परिजनों का ही विनाश हो रहा था।[13] दोनों राज्यों के मध्य अनेक भीषण युद्ध हुए जिनमें भारी मात्रा में जन-धन-हानि हुई। ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में ईसरदास ने कच्छ-धरा में शान्ति-स्थापना, जनता की रक्षा, पारिवारिक कलह के निवारण एवं नूतन राज्य की स्थापना हेतु जाम रावल को समझाया जिससे सहमत होकर जाम रावल ने राव खंगार के विरुद्ध गृह-युद्ध से विरत हो शान्ति-पथ की ओर अग्रसर होना स्वीकार किया।[14]

## हालार में नवीन राज्य 'जाम खंभालिया' की स्थापना

ईसरदास की प्रेरणा से जाम रावल ने पारिवारिक कलह के निवारण एवं कच्छ धरा में शान्ति-स्थापनार्थ कच्छ-परित्याग कर नवीन राज्य की स्थापना का निर्णय किया।

कच्छ स्थित केराकोट से प्रस्थान करने के उपरान्त जाम रावल ने आमरण व गोडण के शासक तमाची पर विजय प्राप्त कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् नाग बन्दरगाह पहुँचकर ईसरदास की ज्ञान-चर्चा से प्रभावित वहाँ स्थित एक साधु को उनकी प्रेरणा से प्रसन्न किया तथा उससे एक सहस्र अश्व प्राप्त किये। साधु द्वारा जाम रावल को एक सहस्र अश्व देने का उल्लेख ईसरदास कृत निम्न दोहे में हुआ है—

*जड़ियो बसै जंगळ मैं घोड़ां रो दातार।*
*त्रूठो रावल जाम नैं, हांके दी हालार।।*

साधु से प्राप्त अश्वों से उन्होंने एक विशाल सेना खड़ी की, जिससे सौराष्ट्र के ठिकानों एवं छोटे राज्यों पर जाम रावल के शौर्य का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने ईसरदास के मार्गदर्शन में युद्ध किये बिना ही जाम रावल की अधीनता स्वीकार कर ली तथा एक नवीन राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ।

हालार के मध्य खंभालिया नामक स्थान पर जाम रावल ने नूतन राज्य की स्थापना की जिसका नाम 'जाम खंभालिया' रखा गया। इस राज्य की राजधानी 'जाम खंभालिया' घोषित की गई तथा इसके शासक के रूप में 'जाम' की उपाधि जाम रावल द्वारा धारण कर किले का निर्माण करवाया गया।

## जाम नगर (नवा नगर) की स्थापना

जाम खंभालिया में निवास करते हुए एक दिन जाम रावल एवं ईसरदास कतिपय सरदारों (सामन्तों) के साथ अश्वारूढ़ होकर भ्रमण कर रहे थे। मार्ग में उन्होंने एक शशक (खरगोश) को चार-पाँच श्वानों से भयभीत होकर भागते हुए देखा। एक स्थान पर जाकर शशक रुक गया तथा श्वानों के सामने हो गया जिससे भयभीत श्वान भाग गए। ईसरदास ने इसे अच्छा शकुन समझते हुए जाम रावल को परामर्श दिया कि यह इस वीर-भूमि का प्रभाव है। अतः ईसरदास के परामर्श पर जाम रावल को अपनी राजधानी जाम खंभालिया के स्थान पर नए स्थान पर रखनी चाहिए। ईसरदास के परामर्श एवं सरदारों (सामन्तों) के समर्थन से नवीन राजधानी का निर्माण किया गया तथा नवनिर्मित नगर का नाम जाम नगर उर्फ नवानगर रखा गया। जाम नगर की स्थापना का उल्लेख ईसरदास कृत निम्न दोहों में हुआ है—

*संवत पनर छनवें, स्रावण मास सुधार।*
*नगर रच्यो रावळ नृपत, सुद सातम बुधवार।।*
*आदसक्ति आसापुरी, माँ पूजी महमाय।*
*बिध-बिध देव मनाविया, चित अत रावल चाय।।*

जाम नगर की स्थापना के उपलक्ष्य में जाम रावल द्वारा भूमि पूजन के उपरान्त नव-निर्मित नगर की मंगल-कामनार्थ भक्तवर ईसरदास ने आशापुरा देवी (आवड़) पर पन्द्रह छन्दों में नव-सृजित काव्य रचना 'आशापुरा' का पाठ किया।

## महाप्रयाण

वि.सं. 1675/1628 ई. में अशीति पर आधृत ईसरदास ने भगवान् श्रीकृष्ण के धाम जाने का निश्चय किया। उन्होंने भगवान् द्वारकाधीश में लीन होने के लिए जल-समाधि के द्वारा पंचभौतिक देह के परित्याग करने का निर्णय किया। अतः चैत्र शुक्ला नवमी के दिन उन्होंने अपने पुत्र, पौत्रों, प्रपौत्रों, परिजनों तथा मित्रों को सँचाणा के समुद-तट पर आमंत्रित किया। शिव-मन्दिर में आराधना कर वे समुद्र-तट पर पहुँचे। तत्पश्चात् सँचाणा की पवित्र भूमि को अंतिम नमन करके अश्वारूढ़ होकर अपने अश्व को समुद्र के जल में द्वारका की ओर यह कहते हुए झोंक दिया—

*ईसर घोड़ा झोंकिया, महासागर कै माँय।*
*तारणहारो तारसी, साँई पकड़ी बाँय।।*

उपस्थित जन समुदाय ने जलनिधि में तैरकर जाते हुए उनके अश्व को देखा तथा देखते ही देखते वे अदृश्य होकर गोलोकवासी हो गये।[15]

इस प्रकार मारवाड़ के भादरेस में जन्म लेकर कच्छ एवं सौराष्ट्र को कर्मभूमि बनाकर पश्चिमी भारत में भक्ति रस की अजस्र स्रोतस्विनी को प्रवाहित करने वाले तैयालीस काव्य ग्रंथों के रचयिता भक्त कवि, शान्ति के उपासक एवं लोकोपकारी महापुरुष इस संसार से विदा होकर अपने कृतित्व, उपदेशों, कार्यों और प्रेरणाओं के चिरन्तन आलोक की रश्मियों को विकीर्ण करते हुए कीर्तिशेष हो गए।

## सन्दर्भ


1. बद्री प्रसाद सांकरिया, *हरिरस*, सादूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टिट्यूट, बीकानेर, 1960 भूमिका, पृ. 2-4
2. सोहन दान चारण, *ईसरदास ग्रंथावली*, भाग-1, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2003, पृ. 1-2
3. कालिका रंजन कानूनगों, *स्टडिज इन राजपूत हिस्ट्री*, एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, पृ. 39-41
4. महादान सिंह बारहठ भादरेश, *महाकवि ईसरदास बारहठ की प्रामाणिक जीवनी*, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 2014, पृ. 14
5. मोहन लाल जिज्ञासु, *चारण साहित्य का इतिहास*, भाग-1, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, पृ. 129-131, 135-139
6. महादान सिंह बारहठ भादरेश, पूर्वोक्त, पृ. 18
7. वही, पृ. 26-31
8. वही, पृ. 33
9. मावदान रतनु, *यदुवंश प्रकाश अने जामनगर नो इतिहास*, खण्ड-1, पृ. 100
10. सोनों और सुगन्ध, पृ. 71 :
11. महादान सिंह बारहठ भादरेश, पूर्वाक्त, पृ. 64
12. वही, पृ. 64
13. मावदान रतनु, पूर्वोक्त, खण्ड-1, पृ. 9
14. वही, पृ. 102
15. वही, पृ. 9


❑❑❑

# बीकानेर राज्य में कृषि व्यवस्था एवं उसके संवर्धन के प्रयास (1707-1818 ई.)

• डॉ. मीना कुमारी

राजपुतानें में स्थित बीकानेर की भौगोलिक परिस्थितियों में यहाँ का अधिकतर भू-भाग रेतीली भूमि से आच्छादित एवं वर्षा की अनियमितता और न्यूनता से युक्त था। इस कारण कृषि भूमि की उत्पादन क्षमता उचित जल-प्रबंधन पर निर्भर थी। जहाँ कृषि हेतु उचित जल व्यवस्था एवं उपयुक्त भूमि होती थी उसी के अनुरूप उस क्षेत्र में जनसंख्या का घनत्व होता था। राज्य का उतर-पूर्वी भाग अधिक घना बसा हुआ था, जबकि दक्षिणी एवं मध्य भाग छितरा बसा हुआ और पश्चिमी भाग की आबादी बहुत ही कम थी।[1] जी.एस.एल. देवड़ा ने बीकानेर क्षेत्र की भूमि को पांच भिन्न-भिन्न रूपों में वर्गीकृत किया है जो इस प्रकार से है—**धोरा**—वह भूमि जो छोटे-बड़े रेतीले टीबों युक्त; **ताल**-समतल व कुछ सख्त भूमि जहाँ जल एकत्रित हो जाता हो, **खारी पट्टी**—क्षारीय तत्त्व युक्त भूमि; **मगरा**—बीकानेर के दक्षिण भाग में कंकरीली सख्त भूमि एवं **सूंई**—समतल एवं चिकनी भूमि।[2] उचित प्रशासनिक व्यवस्था के अन्तर्गत भी भूमि की उत्पादन क्षमता के अनुरूप विभाजन किया गया था।[3] राज्य द्वारा भूमि की उर्वरा शक्ति के आधार पर कर का निर्धारण किया जाता था। राज्य की कुल कृषि योग्य भूमि के बहुत कम भाग *जोत* के काम आता था। सेटलमेंट रिपोर्ट में इसका आंकलन कुछ परगनों को छोड़कर 15 प्रतिशत के रूप में किया गया है।[4]

प्रो. देवड़ा ने बीकानेर राज्य में *जोत* की भूमि कुल भूमि के जोत योग्य 50 प्रतिशत भूमि के होने पर भी एक-तिहाई हिस्से से कम माना है। उपर्युक्त परिस्थितियों में राज्य के लिए आवश्यक था कि जोत की भूमि में वृद्धि कर राज्य की आय में बढ़ोतरी की जाये। राज्य द्वारा प्रति हल के अनुसार कर निर्धारित किया जाता था[5] जो की क्षेत्रफल के अनुमान पर निर्धारित था। बंजर भूमि में प्रति हल 2 रुपये, जोत वाली भूमि में प्रति हल 3 रुपये तथा नाली

एवं उन्नाव वाली भूमि में 4-5 रुपये प्रति हल के हिसाब से *हासल* वसूल किया जाता था।[6] बीकानेर राज्य में सर्वप्रथम वि. सं. 1840/1783 ई. में भूमि का मापन हुआ और उससे प्रति बीघा के अनुसार *बीघेड़ी* नाम से नया कर लिया जाने लगा था।[7] राज्य का प्रयास रहता था कि अधिक से अधिक भूमि जोती जाये। इसके लिए जब नया गाँव बसाने के लिए कोई व्यक्ति, चौधरी या जमींदार सरकार से अनुमति मांगता था तो सरकार उन्हें अनुमति के साथ कुछ छूट भी प्रदान करती थी। गाँव के चौधरी को नया गाँव बसाने के लिए कर रहित जमीन दी जाती थी एवं उपज का पांच प्रतिशत भी दिया जाता था। इसके साथ ही गाँव से कुछ वर्षों तक कर वसूल नहीं किया जाता था।[8] जब नया गाँव बसाया जाता था तो वहाँ की सम्पूर्ण भूमि *जोत* के काम आये इसके लिए वहाँ आस-पास के *चीरे* और गाँव से *गुवाड़ियों* और व्यक्तियों का आकर बसने के लिए बुलाया जाता था, उन्हें प्रलोभन स्वरूप नयी बसावट की शुरुआत के कुछ सालों तक विभिन्न करों में रियायत दी जाती थी। इसी तरह किसी गाँव में बाहर से कोई व्यक्ति आकर बसता था तो दरबार की तरफ से उनका विशेष ध्यान रखने का आदेश दिया जाता था। उदाहरणार्थ वि.सं. 1831/1774 ई. में पुनिया गाँव के चौधरी ने बसावट की, इस उपलक्ष में दरबार द्वारा चौधरी से कर का तीसरा हिस्सा एवं जो बाहर से आकर बसे उनसे चौथा हिस्सा लेने का बहियों में विवरण मिलता है।[9]

कृषि भूमि में विस्तार की योजना में न केवल कृषक वर्ग शामिल था अपितु साधु-संतों को भी स्थाई निवास करने के लिए उन्हें *जोत* हेतु भूमि प्रदान की जाती थी ताकि प्रति व्यक्ति जोत भूमि में वृद्धि हो और राज्य को नियमित रूप से कर प्राप्त होता रहे। वि.सं. 1827/1770 ई. के एक सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि गाँव मोनीधाने में गुसांई कान्हड़पुरी एवं भोजपुरी के चेले[10] आकर बसे थे, उनके जीवनयापन हेतु *डोहली* की जमीन जोतने के लिए एवं पीने के लिए जल की व्यवस्था का आदेश राज्य सरकार की ओर से हुआ था।[11]

व्यावसायिक जातियों को गाँव में आकर बसने के लिए प्रोत्साहन हेतु अनेक करों में छूट प्रदान की जाती थी[12] जिससे कि ये जातियाँ अपने व्यवसाय को अच्छी तरह से स्थापित कर सके। इसके लिए उन्हें प्रोत्साहनस्वरूप भूमि भी दी जाती थी। जैसे-वि.सं 1827/1770 ई. में गाँव निवड़ीसर के सुथार जगाराम एवं कुम्हार हेमा को गाँव रातुसर में बसाने एवं आजीविका हेतु कुछ भूमि प्रोत्साहन स्वरूप प्रदान करने का उल्लेख मिलता है।[13]

इसी तरह जब कोई व्यक्ति इन व्यावसायिक जातियों की नई *गुवाड़ी* को लाकर गाँव में बसाता था तो उस व्यक्ति को भी *जगात* व अन्य *बाब* में कई रियायतें प्रदान की जाती थी। उदाहरणार्थ वि.सं. 1827/1770 ई. में गाँव विजोरासर के गंगों पोटलिया ने अपने गाँव में *हाळियों* की नयी *गुवाड़ी* लाकर बसायी थी, जिसके बदलें में राज्य द्वारा उसे *भोग* में बढ़ा हुआ एक हिस्सा प्राप्त करने का राजकीय आदेश हुआ।[14]

राज्य सरकार द्वारा *जोत* हुई भूमि में उत्पादन की सुनिश्चिता के लिए कुछ नियम भी स्थापित किये हुए थे। खालसा भूमि की जुताई की निर्धारित समय-सीमा से पूर्व कोई भी किसान किसी कारणवश बीच में नहीं छोड़ सकता था।[15] यदि कोई ऐसा करता था तो गुनेहगारी लगाई जाती थी। कर वसूली के समय किसी प्रकार की परेशानी ना हो इसका भी विशेष ध्यान रखा जाता था।[16]

कृषि भूमि के लिए राज्य सरकार नई बसावट पर जितना ध्यान देती थी उतना ही ध्यान इस बात पर भी दिया जाता था कि बसे हुए गाँव से प्रवर्जन ना हो, इसलिए राज्य द्वारा इस हेतु भी भरसक प्रयास किये जाते थे। क्योंकि यहाँ की विपरीत भौगोलिक परिस्थितियोंवश जनता पलायन करने के लिए मजबूर हो जाती थी। राज्य सरकार इस प्रवर्जन को रोकने के लिए कुछ करों में रियायत प्रदान करती थी।[17]

*केहतसाली, खीसताल* एवं करों में आधिक्य से परेशान होकर स्थानीय *गुवाड़ियां* पलायन कर राज्य से बाहर जाकर बसने लगी।[18] 18वीं सदी में महाराजा सूरतसिंह ने जनता पर करों की बढ़ोतरी कर दी थी। *रुखवाली भाछ* (सुरक्षा कर) जो प्रति गुवाड़ी 2 रुपये थी वह बढ़ाकर 10 रुपये की दर से वसूली की जाने लगी थी। इसी तरह से अन्य करों में वृद्धि हुई।[19] जिसकी वजह से रैय्यत व व्यापारी मारवाड़, जयपुर, शेखावाटी[20] एवं अंग्रेजी बस्तियों[21] में जाकर बसने लगे। उदाहरणार्थ पड़िहार नवाब एवं भाटी अमरसिंह नेतसी बढ़ी हुई *भाछ* की दर के डर से अगणेऊ छोड़कर जैसलमेर जाकर बस गये।[22]

पलायन कर चुकी *गुवाड़ियों* को वापिस वहीं लाकर बसाने के प्रयास भी राज्य स्तर पर किये जाते थे। कागद बहियात के अनुसार वर्ष 1825 ई. में एक गाँव के चौधरी ने दरबार से अर्ज की थी कि हमारे गाँव की गुवाड़ी, अंग्रेजी बस्ती में जाकर बस गई है। यदि सरकार *भाछ, हबूब* में कुछ छूट प्रदान करे तो यहाँ वापस आकर बस सके।[23] इस प्रवर्जन से राज्य को बहुत नुकसान हुआ, जिसे रोकने के लिए राज्य सरकार ने बीकानेर से पलायन कर चुकी *गुवाड़ियों* को पुनः बसाने के लिए भी कुछ आयाम स्थापित किये।

इन आयामों का अनुकरण करते हुए राज्य ने प्रवर्जन कर चुकी गुवाडियों एवं व्यापारियों को वापस आकर बसने हेतु रूक्के भिजवाये थे साथ ही यह विश्वास भी दिलाया कि यदि वो पुनः आकर बसते हैं तो उन्हें *रुखवाली री भाछ, हबूब रकम* और *जगात* में आधी या चौथाई छूट प्रदान की जाएगी।[24]

इन्ही प्रयासों के अंतर्गत सरकार की कोशिश होती थी कि राज्य में नयी बसावट के साथ-साथ नजदीक के राज्यों की गुवाड़ीयां भी यहाँ आकर बसे।[25] इन गुवाड़ियों की बसावट के साथ-साथ उन्हें जरूरत के समय भी छूट देती रहती थी जैसे अकाल, सूखा, महामारी, गाँव का लूटमार का शिकार होना, गाँव के आर्थिक रूप से निबळा[26] होने पर एवं गाँव का लड़ाई के क्षेत्र में आने पर, इस तरह की छूट गाँव के सभी निवासियों को मिलती थी।[27] उदाहरणार्थ वि.सं. 1838/1781 ई. में शेखसर चीरे के गाँव उचाहेड़ा के निर्बल होने की वजह धुवें की मद में जमा रुपये 34।।) में से धुवे के एक वर्ष के 13 रुपए छोड़े गये।[28] इसी प्रकार से सिहागोटी चीरे के गाँव भोजासर में ठाकुर के अत्याचार से लोग गाँव से पलायन करने लगे। इस पलायन को रोकने के लिए दरबार की तरफ से विभिन्न करों के चौथे हिस्से को छोड़ने का आदेश हुआ था।[29]

कृषि भूमि में वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन में वृद्धि के लिए राज्य द्वारा सिंचाई की व्यवस्था पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था क्योंकि उत्पादन में वृद्धि के साथ सिंचित जमीन पर सिंचाई कर वसूली से भी राज्य को आय प्राप्त होती थी।[30]

राज्य को अनवरत रूप से हासल प्राप्त हो इसके लिए किसानों को अपने गाँव की जमीन पर खेती करने के निर्देश दिए जाते थे।[31] यदि कोई बाहर किसी दूसरे गांव में जाकर खेती करता था तो जुर्माना लगाया जाता था। साथ ही यह व्यवस्था भी थी कि यदि किसी के पास जमीन नहीं है तो वह किसी अन्य जगह जाकर मुकाते पर खेती कर सकता है।[32] राज्य कर्मचारियों को भी समय-समय पर प्रोत्साहनस्वरूप पड़त की जमीन आवंटित की जाती थी।[33]

यदि कोई किसी कारणवश अपना खेत व घर छोड़कर बाहर चला जाता था तो उसके पांच-दस वर्ष पश्चात् उसके वापस लौटने पर उसका अपनी जमीन-जायदाद पर पहले की तरह अधिकार लौटा दिए जाते थे।[34]

भटनेर, अनूपगढ़ क्षेत्र में नाली[35] की जमीन पर वर्ष में तीन फसलें होती थी यदि यहाँ जल के वितरण में रैयत द्वारा कोई अवरोध उत्पन्न किया जाता था तो राज्य द्वारा मामले के निपटारे के साथ भूमि पर निर्बाध रूप से सिंचाई की व्यवस्था होती थी।[36]

निष्कर्षतः बीकानेर राज्य द्वारा कृषि भूमि के संवर्धन हेतु विभिन्न प्रयास किये गये थे, जिससे यहाँ आबादी में वृद्धि के साथ-साथ राज्य की आय में भी बढ़ोतरी हुई।

## सन्दर्भ


1. जी.एस.एल. देवड़ा, *राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था (1574 से 1818 ई.)*, प्रथम संस्करण, धरती प्रकाशन, बीकानेर, 1981, पृ. 213
2. जी.एस.एल. देवड़ा, पूर्वोक्त, पृ. 211; धान रे भोग री बही, नं. 57, वि.सं. 1736/1679 ई.; पी.जी. फेगन, *सेटलमेंट रिपोर्ट ऑफ बीकानेर स्टेट, बीकानेर*, पृ. 3-4; हुकुमसिंह सोढ़ी, *ज्योग्राफी ऑफ बीकानेर*, पृ. 3-5
3. जी.एस.एल. देवड़ा, 'रेगिस्तानी क्षेत्र में कृषि भूमि व उसका वर्गीकरण', *राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसिडिंग*, वोल्यूम IX, कोटा, 1976, पृ. 37-38
4. पी.जी. फेगन, *सेटलमेंट रिपोर्ट, बीकानेर*, पृ. 6-7, रा.रा.अ.बी.
5. जी.एस.एल. देवड़ा, पूर्वोक्त, पृ. 226
6. राजेन्द्र कुमार, 'थार मरुस्थल में जल वितरण से सम्बद्ध कराधान प्रणाली (18-19 वीं सदी के सन्दर्भ में)', *जल, जीवन और समाज*, संपा. जिब्राईल, एनी बुक्स, दिल्ली, 2019, पृ. 100
7. राजेन्द्र कुमार, पूर्वोक्त, पृ. 101
8. मीना कुमारी, 'बसावट की प्रक्रिया एवं स्तरीकरण', अप्रकाशित शोधपत्र
9. *कागद बही*, नं. 3, वि.सं. 1827/1770 ई., इमेज नं. 32; बही नं. 4, वि.सं. 1831/1774 ई., इमेज नं. 33, 64, ऑनलाइन सर्वर, रा.रा.अ. बीकानेर
10. शिष्य या अनुयायी।
11. *कागद बही*, नं. 3, वि.सं. 1827/1770 ई., इमेज नं. 32, ऑनलाइन सर्वर, रा.रा.अ. बीकानेर
12. जी.एस.एल. देवड़ा, पूर्वोक्त, पृ. 186
13. *कागद बही*, नं. 3, वि.सं. 1827/1770 ई., इमेज नं. 32, ऑनलाइन सर्वर, रा.रा.अ.बी.
14. *कागद बही*, नं. 3, वि.सं. 1827/1770 ई., इमेज नं. 34, ऑनलाइन सर्वर, रा.रा.अ.बी.
15. राजेन्द्र कुमार, पूर्वोक्त, पृ. 105
16. राजेन्द्र कुमार, पूर्वोक्त, पृ. 102
17. कागद बही, नं. 5, वि.सं. 1838/1781 ई., इमेज नं. 22, ऑनलाइन सर्वर
18. जी.एस.एल. देवड़ा, *राजस्थान इतिहास के अभिज्ञान*, पृ. 203

19. *कागद बही*, नं. 4, वि.सं. 1831/1774 ई., पृ. 29, 35, 56; वि.सं. 1857/1800 ई., नं. 11, पृ. 81, 89
20. *कागद बही*, नं. 33, वि.सं. 1884/1827 ई., पृ. 9 एफ-2
21. *कागद बही*, नं. 33, वि.सं. 1884/1827 ई., पृ. 9 एफ-2
22. *कागद बही*, नं. 33, वि.सं. 1884/1827 ई., पृ. 25 एफ-2
23. *कागद बही*, नं. 32, वि.सं. 1882/1825 ई., पृ. 105 एफ-2
24. *कागद बही*, नं. 5, वि.सं. 1838/1781 ई., इमेज नं. 17, 25, 107, 119; बही नं. 4, वि.सं. 1831/1774 ई., इमेज नं. 69-70; बही नं. 3, वि.सं. 1827/1770 ई., इमेज नं. 32, 34, ऑनलाइन सर्वर, रा.रा.अ.बी.
25. *कागद बही*, नं. 33, वि.सं. 1884/1827 ई., पृ. 25 एफ-2
26. कमजोर।
27. जी.एस.एल. देवड़ा, पूर्वोक्त, पृ.185
28. *कागद बही*, नं. 5, वि.सं. 1838/1781 ई., पृ. 15 एफ-2
29. *कागद बही*, नं. 5, वि.सं. 1838/1781 ई., पृ. 17 एफ-1
30. राजेन्द्र कुमार, पूर्वोक्त, पृ. 111-112
31. राजेन्द्र कुमार, पूर्वोक्त, पृ. 111-113
32. वही
33. जी.एस.एल. देवड़ा, पूर्वोक्त, पृ. 217-218
34. जी.एस.एल. देवड़ा, पूर्वोक्त, पृ. 214
35. *नाली*-घग्घर नदी का हनुमानगढ़ जिले में अपवाह क्षेत्र।
36. राजेन्द्र कुमार, पूर्वोक्त, पृ. 111-112

**डॉ. मीना कुमारी**

नई दिल्ली

❑❑❑

# मथेरण चित्रकला : बीकानेर की सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक परम्पराओं के सचित्र दस्तावेज

● डॉ. राकेश किराड़ू

बीकानेर नगर स्थापना काल वि.सं. 1545 बैशाख सुदी 2 (12 अप्रैल 1488 ई.) से लेकर वर्तमान समय तक यहां एक कलाकार वर्ग अस्तित्व में रहा है जिसका दरबारी वर्ग से लेकर समाज के प्रत्येक समुदाय से न केवल घनिष्ठ कलात्मक रिश्ता रहा है बल्कि उनकी कला का समाज में विशिष्ट स्थान रहा है। यह वर्ग ''*मथेरी*', ''*मथेन*'', ''*मत्थेन*'', ''*मथेरण*'' इत्यादि जाति विशेषण से संबोधित किया जाता रहा है जिनका मुख्य कार्य चित्रकारी करना था जो उनकी आजीविका का मुख्य साधन रहा है। इसी वर्ग से उपजी कला को इनकी स्वयं की जाति के नाम पर ही मथेरण कला के नाम से अभिहित किया जाने लगा व कालान्तर में यहीं नाम रूढ हो गया। उनकी कला के संबंध में मान्यता है कि सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक संस्कारों के विषयों के मंथन के पश्चात् इनकी उत्पत्ति हुई इसलिए इनको कालान्तर में *मथेरी, मथेरण* आदि पुकारा जाने लगा एवं इनकी कलम से उपजी कला को मथेरण कला कहा जाने लगा।

बीकानेर में इनका आगमन नगर के संस्थापक राव बीका के साथ ही हुआ प्रतीत होता है और उसी समय से ही वे यहां पर चित्रकर्म करने लगे एवं इस कलाकार वर्ग के सभी परिवार राज परिवार के आदेशानुसार एक ही स्थान पर बस गये इसलिए कालान्तर में इस स्थान को मथेरी मोहल्ला कहा जाने लगा। जहां पर इन्होंने पीढ़ी दर पीढ़ी चित्रकर्म किया है और आज भी इनको यहां पर चित्रण करते हुए कभी भी देखा जा सकता है। उनका यह कलाकर्म पीढ़ी दर पीढ़ी अनवरत रूप से जारी है।

सर्वप्रथम हमें इनके पुरातन कलाकर्म के बारे में राजस्थान के पांडुलिपि ग्रंथागारों में उपलब्ध ग्रंथों की प्रतिलिपियों से परिचय प्राप्त होता है जिनमें कहीं लिपिकर्ता कहीं चित्रकार के रूप में इनके नामोल्लेख देखने को मिलते हैं। जैन व सनातन धर्मों की परम्पराओं में हजारों हजार की संख्या में ग्रंथों का सृजन इनके द्वारा हुआ है जिनमें मथेरण कलाकारों ने अपनी कूंची से रंगपात किया है।

इनमें धार्मिक ग्रंथों के अलावा साहित्यिक और ऐतिहासिक रचनाओं पर भी मथेरण कलाकारों द्वारा ग्रंथ सृजन हुआ है। धार्मिक रचनाओं में प्रमुख तौर पर *प्रहलाद चरित्र, दुर्गासप्तसती, पंचरत्न गीता, नासिकेत री कथा, कल्पसूत्र, अंगसूत्र एवं शालिभद्रमहामुनि चौपाई* इत्यादि हैं। साहित्यिक रचनाओं पर आधारित चित्रित ग्रंथों में *ढोला मारू री वात रा दूहा, चंदन मलयागिरी री बात, वेलीकृष्ण रूक्मणी री, बाराहमासा* व ऐतिहासिक कथानकों पर आधारित चित्रित ग्रंथों में *बरसलपुर गढ़ विजय* जैसे अनेकानेक चित्रित ग्रंथ प्रमुखता से हैं जिनका सृजन मथेरण कलाकारों ने किया है जिन ग्रन्थों का प्रभाव यहां के धार्मिक सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन पर सदैव से ही रहा है।

इसके अतिरिक्त राजमहलों, सेठ साहूकारों की हवेलियों व अनगिनत प्राचीन मंदिरों में मथेरण कलाकारों ने भित्ति चित्रण किया है। इनके अतिरिक्त कई अधिक रूप में जनसामान्य के लिए (सामाजिक संस्कारों के तौर पर) ये चित्रकारी करते रहे हैं जिनमें जीवन के विविध पक्षों जैसे तीज त्यौहार, पर्वोत्सवों आदि पर चित्रण किया है, साथ ही साथ जन्म से लेकर मृत्यु तक समस्त संस्कारों पर भी चित्रण किया है, फिर चाहे वह जैन परम्पराओं से या सनातन परम्पराओं से संबंधित हो। साधारण जन की चित्रण आवश्यकओं की पूर्ति में उन्होंने अपनी कलात्मकता एवं कल्पनाओं का भरपूर प्रदर्शन किया। साथ ही अपनी कला के हुनर एवं बारीकियों को पीढी दर पीढी हस्तान्तरण करते गये जो आंशिक रूप से ही सही पर आज भी विद्यमान है।

सनातन परम्परा में जन्म के समय बनने वाली जन्म-कुण्डली को चित्रित करने से लेकर यज्ञोपवित संस्कार में प्रयुक्त स्लेट (स्थानीय नाम बोरखा पाटी), विवाह संस्कार के समय मातृका स्थापना (स्थानीय नाम मायाजी), विवाह के तोरण व स्तम्भ पर चित्र, बागवाड़ी (बारात के आगे चित्रित मण्डप) के चित्र व अंतिम संस्कार के समय घर के आंगन में बनने वाले गंगाचरण के चित्र (स्थानीय नाम गंगाजी रा पगलियाचरणचिन्ह) इत्यादि जीवन के समस्त संस्कारों पर मथेरण चित्रकारों ने अपनी कलम से चित्र उकेरे हैं या यूं कहें की इस संपूर्ण क्षेत्र में मथेरण चित्रकारी के बिना कोई संस्कार शायद ही पूर्ण हुआ हो तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। इस प्रकार मथेरण कलाकार इस क्षेत्र की संस्कृति के अभिन्न अंग रहे हैं बिना इनके कोई भी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक परम्परा का निर्वहन असंभव सा लगता है।

इसी क्रम में बात तीज त्यौहारों की करें तो बीकानेर परिक्षेत्र वह स्थान है जहां साल के 12 महीने ही तीज त्यौंहारों का बोलबाला रहता है। तीज त्यौंहारों

को मनाने में गहरी रुचि एवं उत्साह यहां के लोगों में देखने को मिलता है। इन तीज त्यौंहारों में भी जान फूंकने का कार्य सदैव से ही मथेरण चित्रकारों ने किया है। बीकानेर स्थापना पर्व के समय बनायी गई विशेष प्रकार की पतंग (स्थानीय नाम चंदा) से इनकी बानगी देखते ही बनती है। जिस पर सुन्दर चित्राकृतियां प्रतिवर्ष बनाई जाती हैं। इसी क्रम में दीपावली पर महालक्ष्मीजी पूजा का चित्रित पृष्ठ (स्थानीय नाम महालक्ष्मी जी का पाना), होली पर्व पर लोकरंजित मुखौटे, तरह तरह के मिट्टी कुट्टी के खिलौने बनाना व उस पर चित्रांकन, होलकाष्टक (होली से पूर्व 8 दिन तक चलने वाला उत्सव) के चित्रित स्तम्भ, शरदपूर्णिमा पर घरों की छतों पर लगने वाले आकाशदीप पर चित्रण, गणगौर पर्व पर गणगौर की काष्ठ निर्मित मूर्तियों पर रंगांकन इत्यादि ऐसे अनेक पर्वोत्सव हैं जिनमें मथेरण चित्रकारों ने चित्रण किया है जिसके कारण पर्वोत्सवों में और अधिक रोचकता का संचार हुआ है। इसके अतिरिक्त भित्ति-चित्र, पटचित्र, सचित्र काष्ठ फलक (प्रतराखिणी), सचित्र विनती व विज्ञप्ति पत्र, काष्ठ पात्रों पर चित्रण, लकड़ी की छतों, दरवाजों पर चित्रण, भौगोलिक चित्रण, सामुद्रिक शास्त्र पर चित्रित शकुनावली, तंत्र विद्या के चित्र, कामशास्त्र के चित्र, मणौत चित्र (स्वर्णमुनव्वत का कार्य) इत्यादि अनेकानेक विषयों पर मथेरण कलाकारों ने पीढ़ी दर पीढ़ी जीवनपर्यन्त चित्रण किया है।

उक्त समस्त प्रकार की चित्रण विधाओं में मथेरण कलाकारों ने कार्य किया है जिसका प्रभाव यहां के लोकजीवन व उनकी संस्कृति पर सदैव से ही रहा है या यूं कहे कि कोई भी पर्वोत्सव व जीवन का संस्कार ऐसा नहीं रहा होगा जिसमें मथेरण कलाकारों का योगदान नहीं रहा होगा। मथेरण कला की इस चित्रण विधा के कुछ उदाहरण निम्न दृष्टव्य हैं :-

## 1. ग्रंथ चित्रण :

| | |
|---|---|
| **ग्रंथ का नाम** | वेलि कृष्ण रूक्मणी री वात |
| **संग्रह स्थल** | अनूप संस्कृत पुस्तकालय, महाराजा गंगासिंह ट्रस्ट, लालगढ, बीकानेर |
| **सृजनकर्ता** | चित्रकार व लिपिकर्ता मथेन अखेराज |
| **सृजनकाल** | ई. 1751 (वि.सं. 1808) |
| **सृजन स्थल** | बीकानेर |
| **कुल चित्र** | 138 |

चित्र संख्या 1
वर्षा ऋतु में महल में
विराजित श्री कृष्ण व रूकमणी

चित्र संख्या 2
श्री कृष्ण का वंशीवादन

चित्र संख्या 3
श्री कृष्ण का गोपियों से दूध
का दान मांगना

भित्ति चित्रण

चित्र संख्या 1 बादल महल जूनागढ बीकानेर

इसी प्रकार मथेरण कलाकारों द्वारा सामाजिक सरोकारों, रीति रिवाजों एवं संस्कारों पर किये गये चित्रण के कुछ उदाहरण निम्न दृष्टव्य हैं :-

चित्र संख्या-1
लक्ष्मी पूजन (स्थानीय भाषा में नाम : पाना)

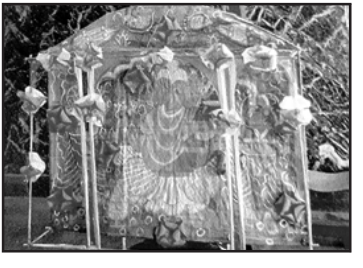

चित्र संख्या-2
बागबाड़ी (विवाह संस्कार)

चित्र संख्या-3
पतंग (स्थानीय नाम : चंदा)

चित्र संख्या-4 गणगौर

मथेरण कलाकारों के आश्रयदाता जहां एक ओर धनश्रेष्ठि थे जो ग्रंथचित्रण व भित्ति चित्रण जैसे गांभीर्यपूर्ण कार्य उनसे करवाते थे तो दूसरी ओर जनसामान्य जन्म से मृत्यु तक के संस्कारों व समस्त पर्वोत्सवों पर इनसे चित्रण कार्य करवाते थे लेकिन जैसे-जैसे आधुनिकता ने अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू किया एवं प्रकाशन का व्यवसाय बढ़ा वैसे-वैसे इसका प्रतिकूल प्रभाव इनके कलाकर्म पर पड़ा। धार्मिक, सामाजिक व सांस्कृतिक संस्कारों से संबंधित प्रकाशित चित्र बाजार में आने लगे एवं धीरे-धीरे बाजार पर इनका पूर्ण नियंत्रण हो गया तब इन हस्तनिर्मित चित्रों की तुलना में प्रकाशित चित्र अत्यधिक सस्ते बनने लगे तब धीरे-धीरे इन चित्रों की मांग कम होने लगी एवं इस वर्ग पर आजीविका का संकट मंडराने लगा। फलस्वरूप इन कलाकारों ने दूसरे व्यवसाय की तरफ रुख करना शुरू कर दिया। कुछ ने इस जाति, पदनाम को भी परिवर्तित कर लिया। कुछ महात्मा तो कुछ जैन लिखने लगे कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि जिस कला व कलाकारों के कलाकर्म के बिना इस क्षेत्र में कोई भी धार्मिक सामाजिक व सांस्कृतिक परम्पराएं पूर्ण नहीं होती थीं अब आधुनिकता के इस दौर में वह चमक फीकी-सी पड़ गई है हालांकि मथेरण मोहल्ले में आज भी यह कलाकार चित्रण करते हुए देखे जा सकते हैं, लेकिन आवश्यकता है इस प्रवाही परम्परा को पुन: प्राणों के नवीन संचार की ताकि वह अपने मूल रूप में पुनर्स्थापित हो सके। वर्तमान में इस कला के दस्तावेजीकरण की अत्यन्त आवश्यकता है ताकि तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परम्पराओं के मुख्य स्रोत को संरक्षित किया जा सके।

## संदर्भ


1. मुंशी देवी प्रसाद, *राव बीकाजी का जीवन चरित्र*, पृ. 10-11
   इसके संदर्भित एक दोहा भी प्रसिद्ध है
   *पनरे सौ पैतालवे, सुद वैसाख सुमेर।*
   *थावर बीज थरपियो, बीके बीकानेर।।*
2. डॉ. निरंजन देव व्यास, 'मथेन जाति के चितेरों का राजस्थानी शैली के विकास और प्रसार में योगदान', अप्रकाशित शोध पृ. 72
3. राय बहादुर मुंशी हरदयालसिंह, *रिपोर्ट मर्दुमशुमारी* राज. मारवाड़ सन् 1891 ई. श्री जगदीश सिंह शोध संस्थान, जोधपुर, 1997 पृ. 234
4. कृष्णचंद्र शर्मा, *मथेरण कलम*, मरूधारा शोध केन्द्र, बीकानेर, पृ.सं. 18
5. डॉ. निरंजन देव व्यास, पूर्वोक्त पृ. 144
6. वहीं पृ. 170
7. वहीं पृ. 181


❑❑❑

# चरखा और खादी के अनुप्रयोग में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की भूमिका

• प्रीति गिरि

• प्रो. आभा रुपेंद्र पाल

*चरखा एक हस्तचलित युक्ति है जिससे सूत तैयार किया जाता है। इसका उपयोग कुटीर उद्योग के रूप में सूत उत्पादन में किया जाता रहा है।*

भारत के स्वतंत्रता संग्राम में यह आर्थिक स्वावलम्बन का प्रतीक बन गया था। 'खादी केवल वस्त्र नहीं बल्कि विचार है'। ये वाक्य भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने कहा था। आज भी लोगों के मस्तिष्क में खादी का नाम आते ही राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की याद आती है। उनके इस काम में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने उनका बखूबी साथ दिया। खादी के प्रचार-प्रसार का काम डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को विशेष रूप से प्रिय था। वस्तुत: खादी को लोकप्रिय बनाने का श्रेय उन्हीं को जाता है। 22 सितम्बर 1925 को जब अखिल भारतीय चरखा संघ की स्थापना हुई तो डॉ. राजेन्द्र प्रसाद इसके प्रतिनिधि नियुक्त किए गए और यह उन्हीं के दिन-रात के परिश्रम का फल था कि बिहार में खादी का काम इतना आगे बढ़ सका। घर-घर चरखे चलने लगे, अनेक स्थानों पर खादी के उत्पादन केन्द्र कायम हुए, बिक्री केन्द्र खुले और इस तरह हजारों लोगों को रोजी मिलने लगी। इस काम के सम्बन्ध में वे दूर-दूर के प्रांतों के विभिन्न भागों का भ्रमण करते और प्रदर्शनियों के माध्यम से एवं स्वयं भाषणों द्वारा खादी अपनाने के प्रयोजन तथा फायदों पर प्रकाश डालते थे। चरखा गरीबों की ओर समाज का ध्यान आकर्षित करने का एक माध्यम है, यह छोटे और घरेलू उद्योगों की वापसी के साथ आर्थिक कष्टों को दूर करने का सुलभ मार्ग है। यह उत्पादन और वितरण का विकेन्द्रीकरण करने का विचार है। इसके अतिरिक्त चरखा गाँववासियों के लिए उन्नति और आत्मनिर्भर बनाने का मार्ग है। इसमें सहयोग

करते हुए खादी के प्रचार के लिए डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने दक्षिण भारत का भी बहुत दिनों तक भ्रमण किया। इस क्रम में वे आंध्रप्रदेश भी गए और प्रदेश के कांग्रेसजनों के आग्रह पर वहाँ दिए गए अपने भाषणों का एक संकलन तैयार किया, जो 'खादी का अर्थशास्त्र' शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

भारत में चरखे के बहुतेरे उपयोग की गति महात्मा गांधी के भारत आगमन के साथ ही तीव्र हो जाती है। इस अनुक्रम में सन् 1920 में गाँधीजी ने असहयोग आंदोलन के समय विशेषकर चरखे पर जोर दिया। गाँधीजी जब दक्षिण अफ्रीका में थे तभी से उन्हें बड़ा दु:ख था कि अंग्रेजों ने हिंदुस्तान के कपड़े के धंधे को नष्ट कर भारतवासियों पर बड़ा अन्याय किया। उस समय देश में देशी मिलें नहीं थीं इसलिए करीब-करीब एक सौ नब्बे करोड़ का कपड़ा विलायत से आता था। गाँधीजी हिंदुस्तान के कपड़े के धंधे को जीवित कर देश के रुपये को देश से बाहर जाने से बचा लेना चाहते थे।[1] 5 फरवरी 1922 के चौरी-चौरा कांड के तुरंत बाद गाँधीजी ने पहले पहल कांग्रेस के रचनात्मक कार्य को एक निश्चित एवं परिष्कृत रूप दिया और उनके जेल जाते ही डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने गाँधीजी के शब्दों को याद रखा और रचनात्मक कार्यों को एक ठोस अस्तित्व देने के लिए जीवनभर प्रयत्नशील रहे।[2]

सन् 1923 में गाँधीवादी नीति पर चलने वालों ने गाँधी सेवा-संघ की स्थापना की। सेठ जमनालाल बजाज, राजगोपालाचारी, सरदार पटेल, गंगाधर राव देशपाण्डे तथा डॉ. राजेन्द्र प्रसाद इसके संचालक मंडल के सदस्य हुए। इसी समय पटना में एक सार्वजनिक सभा में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद अपने सहयोगियों के साथ शामिल हुए तथा खादी के प्रचार के काम को जोरों से चलाने का निर्णय लिया गया।[3] 23 दिसंबर 1924 में पटना में खादी प्रदर्शनी तथा चरखे से संबंधित प्रतियोगिता हुई।[4] इसमें सरकारी उच्च कर्मचारियों के प्रधान न्यायमूर्ति सर डाउसन मिलर, एच. मेकफरसन तथा अन्य हिंदुस्तानी और अंग्रेज न्यायमूर्ति भी शामिल हुए। इसके उद्घाटन समारोह में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने अपने भाषण में कहा, ''महात्मा गाँधी ने चरखे को रचनात्मक कार्यक्रम कहा परंतु इसके साथ-साथ इसका आर्थिक पहलू भी था, क्योंकि हिंदुस्तान में मिलों के कारण बेकारी की समस्या बहुत बढ़ गई थी। सिर्फ चरखे अपनाने से ही हर एक व्यक्ति की औसत आमदनी सवाई बढ़ जाती और वस्त्र के लिए कहीं भटकना भी नहीं पड़ता था।[5] चूंकि हमारे देश में 100 आदमियों में से 80 किसान हुआ करते हैं। सभी स्थान के किसान वर्ष के सभी दिन और प्रत्येक समय काम नहीं कर

सकते थे। जिस समय वह खेती नहीं करते उस समय वह बेकार बैठे रहते थे। अत: ऐसे समय में यदि किसान चरखे चलाए तो बेकारी भी खत्म होगी तथा कपड़े का अभाव भी खत्म हो जाएगा'।[6]

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का मानना था कि उड़ीसा को छोड़कर बिहार की हिंदी भाषी जनता की आबादी लगभग तीन करोड़ की होगी, और यहाँ के लोग औसतन ग्यारह गज कपड़ा प्रति व्यक्ति इस्तेमाल करते हैं। इस तरह इस प्रांत के लिए लगभग 33 करोड़ गज कपड़े की जरूरत पड़ेगी। अगर साल में सिर्फ 300 दिन करघे का काम किया जाए तो हमें 33 करोड़ गज कपड़ा तैयार करने के लिए प्रतिदिन 11 लाख गज सूत कातना पड़ेगा और अगर एक करघे पर प्रतिदिन 5.5 गज से बहुत अधिक कपड़ा बुना जा सकता है और अगर 4 गज का औसत प्रति दिन रखा जाए तो मैं समझता हूँ यह बहुत ज्यादा नहीं होगा। हम देसी या विदेशी मिलों के कपड़ों का पूरा बहिष्कार करना चाहते हैं तो जो करघे अभी चल रहे हैं, उनमें थोड़ी-सी और बढ़ोतरी कर हम वैसा कर सकते है। उनका मानना था कि उनके प्रांत के लिए जो बात सही है, वह सभी प्रांतों के लिए और सारे देश के लिए भी सही है।[7]

बुनाई मुनाफे का काम नहीं है और सूत कातने वालों की मजदूरी इतनी कम है कि कोई भी मर्द या औरत इसे अपना रोजगार नहीं बना सकते थे। अगर इसकी मजदूरी बढ़ा दी जाती तो कपड़ा इतना महँगा हो जाता कि कोई इसे खरीद ही नहीं पाता। सूत कातने वालों की मजदूरी बहुत है या नहीं, इस सवाल के बारे में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने बिहार प्रांत के अपने व्यक्तिगत अनुभव से बताया कि वहाँ की बहुत सारी औरतें अभी भी सूत कातने का काम करती है और उसी से अपने घर का गुजर-बसर करती हैं। अगर कोई व्यक्ति कताई से चार रुपये महीने कमा लेता है तो इस बात का ध्यान रखते हुए कि हमारे यहाँ के लोगों की औसत आमदनी सवा दो रुपये से ज्यादा नहीं है अत: इस आमदनी को कम नहीं कहा जा सकता है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि अगर लोग चरखा और खादी के काम का उचित संगठन और प्रचार करने में अपनी ताकत लगाएँ तो बिहार में और पूरे देश में भी विदेशी कपड़ों का पूरा बहिष्कार करना असंभव नहीं होगा।[8]

इसके अतिरिक्त खादी के नैतिक और सांस्कृतिक पहलू भी हैं। खादी की पवित्रता और देशभक्ति की भावना लोग महसूस करते हैं। इसके द्वारा धन का जो समान वितरण होता है, उसमें हमें एक तरह की भारतीय संस्कृति की झलक मिलती है। गाँधीजी ने सूत्र रूप में चरखा को शिक्षा का माध्यम बनाने को कहा।

परंतु उनकी यह बात लोगों को समझ में नहीं आई। भारत में उस समय बहुत बड़े परिमाण में अशिक्षा थी। ब्रिटिश सरकार सदा यह कहती आई थी कि प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य करने में बहुत ज्यादा खर्च पड़ेगा जो भारतवर्ष सहन नहीं कर सकता है। गाँधीजी ने सरकार की बात को पूरी तरह से नकारते हुए यह कहा कि लड़के किसी हुनर के द्वारा शिक्षा प्राप्त करें तो शिक्षा व्यय आसानी से निकाल लेगें और भविष्य में जीविका के लिए एक हुनर भी सीख लेंगे और चरखा इसका माध्यम बनेगा।[9]

सन् 1923 ई. में काकीनाडा कांग्रेस अधिवेशन के समय अखिल भारतीय खादी बोर्ड की स्थापना हुई।[10] इसके लिए तिलक स्वराज्य फंड से बहुत आर्थिक सहायता मिली थी, परंतु बाद में जब स्वराज्य पार्टी के साथ समझौता हुआ, तब अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के एक प्रस्ताव द्वारा 22 सितंबर 1925 को अखिल भारतीय चरखा संघ की स्थापना की गई। यह कांग्रेस द्वारा स्थापित संस्था जरुर थी परंतु यह बिल्कुल स्वतंत्र संस्था थी। गाँधीजी चरखा संघ के अध्यक्ष थे।[11] इन सब के अतिरिक्त प्रत्येक काम की देखरेख के लिए एजेन्ट नियुक्त किये गए तथा उनकी सहायता के लिए प्रांतीय मंत्री की भी नियुक्ति की गई। एक कांग्रेसी कार्यकर्ता राम विनोद सिंह ने जे.बी. कृपलानी की सिफारिश तथा डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की अनुमति से उनके काम को आगे बढ़ाने के लिए एक बड़ी रकम कर्ज के रूप में खादी बोर्ड की तरफ से दी। इस प्रकार के प्रयत्न से खादी की उत्पादन क्षमता और बिक्री केंद्र को प्रोत्साहन मिला और यह दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी।[12]

महीन खादी के लिए आंध्रप्रदेश प्रसिद्ध हुआ और बिहार की *कोकटी* भारत के सभी सूबों में जाने लगी। साथ-साथ रंगाई और छपाई का काम भी शुरू हो गया। जगह-जगह पर खादी-प्रदर्शनी का कार्य डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सन् 1926 से लगातार करते रहे। पटना, बेतिया, मोतिहारी, जमशेदपुर आदि जगहों में प्रदर्शनी लगाई गई जिससे कि खादी की बिक्री में बहुत बढ़ोत्तरी हुई।[13] सन् 1925 में गाँधीजी ने बिहार के कुछ जिलों का दौरा कर खादी के लिए फंड जमा किया। गाँधीजी तथा डॉ. राजेन्द्र प्रसाद खादी की प्रदर्शनी के लिए आंध्रप्रदेश गए। वहीं डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने खादी आश्रमों का मुआयना किया तथा खादी से संबंधी सुझाव अपने भाषण में दिया।[14]

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद खादी के प्रचार के लिए असम गए, वहाँ पर रेशम के कीड़े पालना, सूत निकालना और बुनना प्रायः प्रत्येक घर की महिलाएँ जानती थी। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने उन्हें प्रोत्साहित किया तथा साथ ही चरखा संघ से

सिफारिश कर असम में खादी प्रचार हेतु एक अच्छी रकम दिलवाई।[15] उनका मानना था कि खादी ने पोशाक की एकता से बड़े-छोटे का भेदभाव बहुत हद तक दूर कर दिया था। उनका कहना था कि जब मैं वकालत करता था उस दौरान एक खास तरह की पोशाक सिलवानी पड़ती थी। लोग तो बहुत शौक से अपना ऐश्वर्य दिखलाने के लिए कपड़ा पहनते है। इसी दौरान एक बार पंडित मोतीलाल नेहरू ने डॉ. राजेन्द्र प्रसाद से कहा, क्यों जी, मालूम पड़ता है तुम सिर्फ जाड़ा काटने के लिए कपड़े पहनते हो, तो इसके प्रतिउत्तर में उन्होंने कहा ''तो और किस काम के लिए कपड़े पहनते है'' पंडित जी का कहना था लोग देखकर कहे कि कपड़ा पहना है। लगभग इसी भेद को खादी ने दूर कर दिया था। खादी देश-सेवा का काम करने वालों की एक वरदी सी हो गई थी। एक तरह से इस पोशाक ने हम सभी को एकता के धागे से बांध दिया था। यही कहना था डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का।[16]

चरखे की उन्नति कई तरह से देखने में आई। अच्छे से अच्छा बारीक सूत बनने लगे। जिससे बारीक और मोटे दोनों प्रकार के कपड़े अधिक तैयार होने लगे। यह खादी, मिल के बने किसी भी कपड़े का मुकाबला कर सकने में समर्थ थी।[17] खादी की बिक्री बढ़ाने के लिए जगह-जगह प्रदर्शनी की जाती तथा इन प्रदर्शनियों में खादी बनाने की विधि भी दिखलायी जाती थी। काम करने वाले कारीगर कपास लोढ़ने से आरंभ कर उटाई, धुनाई, कताई, बुनाई, रंगाई, छपाई इत्यादि सभी प्रक्रियाएँ दिखलाते थे। साथ ही अगर नए प्रकार के यंत्र किसी भी सूबे में तैयार किए जाते, उसे भी प्रदर्शनी के माध्यम से लागों को दिखलाया जाता था। साबरमती आश्रम तो इसी अनुसंधान में लगा रहता था कि किसी भी यंत्र को उन्नत कैसे किया जाए। इसके अतिरिक्त अन्य जगहों पर भी प्रांतीय शाखाएँ अपने-अपने क्षेत्र में अनुसंधान और प्रयोग का काम करती रहतीं। जिसके फलस्वरूप बहुत किस्म के नए चरखे निकले, जिनका मुख्य उद्देश्य था खादी की प्रगति को बढ़ाना।[18]

कपास की खेती के अलावा रेशमी खादी की भी बहुत प्रगति हुई जहाँ कुछ निम्न स्तर पर रेशम का काम होता था वहाँ वह बहुत ज्यादा बढ़ गया, क्योंकि रेशमी कपड़ों की बिक्री का एक अच्छा साधन चरखा संघ हो गया। विदेशी रेशमी कपड़ा बहुत अधिक प्रचलित था। परंतु अब रेशमी खादी, सुंदरता और कीमत में, विदेशी रेशमी कपड़े का बहुत हद तक मुकाबला करने लगी थी। इसके अतिरिक्त ऊनी खादी भी बनने लगी थी। इसके लिए विशेष प्रबंध कश्मीर में किया गया था। चरखा संघ ने खादी पहनने वालों के लिए ऊनी खादी तैयार

कराकर अपने भंडारों में बेचना आरंभ कर दिया था। इस तरह खादी में बहुत प्रगति हुई और इसकी बिक्री बढ़ गई[19] गाँधीजी ने 'हरिजन' में लिखा है कि हम लोगों में यदि खादी के प्रति थोड़ी भी श्रद्धा होगी तो हम एक दिन देखेंगे कि सुदूर से आने वाले कपड़ों के टुकड़े बेचने वाले जिन करोड़ों ग्राहकों को ये टुकड़े बेचते है, उन्हीं करोड़ों को हम खादी बेच सकते हैं[20] यदि प्रत्येक स्त्री अपने खाली समय में सूत काते तो जनता को सूत रुई के दाम पड़ेंगे[21] गाँधीजी के साथ-साथ डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का यह मानना था कि ब्रिटिशों ने भारतीय बाजार को विदेशी वस्त्रों से भर दिया है और इन वस्त्रों को बेचकर जो आय होती है वह पुनः ब्रिटेन चली जाती है। अतः अपने देश का पैसा देश में रखने के लिए खादी वस्त्र पहनना चाहिए।

## निष्कर्ष

भारत के आर्थिक राष्ट्रवाद में एक महत्वपूर्ण हथियार यदि खादी को कहा जाए तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। गाँधीजी प्रत्येक आंदोलन के दौरान व उसके बाद भी चरखा चलाने की बात करते रहे थे इससे एक ओर जहाँ हमें रोजगार मिलता था वही दूसरी ओर स्वदेशी वस्त्रों व सामानों के प्रयोग के द्वारा विदेशी वस्त्र के प्रहार से हम ब्रिटिशों पर आर्थिक प्रहार करते थे। भारत को आत्मनिर्भर बनाने के लिए खादी को लेकर डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की सोच आज फैशन के इस दौर में कहीं गुम हो गई है। भारत परिधानों के लिए विदेशी कंपनियों पर काफी हद तक निर्भर हो गया है। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि खादी का अस्तित्व भारत से मिट चुका है। आज खादी ने भारत के साथ विदेशों में भी अपनी जगह बना ली है। वर्तमान भारत में एक बार फिर खादी आम भारतीय से जुड़ी है। ''प्रत्येक भारतीय के पास कम से कम एक जोड़ी खादी की पोशाक होनी चाहिए'' और अब ''आत्मनिर्भर भारत'' के आह्वान से खादी को पुनर्जीवन मिल रहा है। खादी नये रूप में सभी की जरूरतें पूरी करने के लिए एक बार फिर ''स्वदेशी'' से शुरू होकर ''आत्मनिर्भर'' तक की यात्रा कर रही है। खादी का रिश्ता हमारे इतिहास और परंपरा से है जिसे भारतीय समाज अपनी संस्कृति के रूप में मानता है।

## संदर्भ

1. महात्मा गाँधी, *मेरे सपनों का भारत*, तुलसी साहित्य पब्लिकेशन, दिल्ली, 2008, पृ. 89

2. पुखराज जैन, *भारत में स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास*, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2007 पृ. 88
3. तारा सिन्हा, *युगपुरुष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद*, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2017, पृ. 34
4. सर्च लाईट, 31 दिसंबर 1924
5. राजेन्द्र प्रसाद, *बापू के कदमों में*, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 124
6. वही, पृ. 124
7. राजेन्द्र प्रसाद, *गाँधीजी की देन*, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ. 52
8. राजेन्द्र प्रसाद, *असमंजस*, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृ. 68
9. सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड-40 पृ. 298
10. लालबहादुर सिंह चौहान, *देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद*, स्वास्तिक प्रकाशन, दिल्ली, 2004, पृ. 62
11. काली किंकर दत्त, *आधुनिक भारत के निर्माता डॉ. राजेन्द्र प्रसाद*, प्रकाशन विभाग, 2011 पृ. 95
12. तारा सिन्हा, *युगपुरुष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद*, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2017 पृ. 35
13. महात्मा गाँधी, *ग्राम स्वराज्य*, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2016 पृ. 48
14. सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय खण्ड-25, 1968, पृ. 475
15. राजेन्द्र प्रसाद, *आत्मकथा*, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 2013, पृ. 381
16. वही, पृ. 381
17. ब्रज कुमार पांडेय, *देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जीवनवृत्त और विचार*, नेशनल बुक ट्रस्ट, 2014 पृ. 156
18. महात्मा गाँधी, *ग्राम स्वराज्य*, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011 पृ. 88
19. राजेन्द्र प्रसाद, पूर्वोक्त, 2010, पृ. 125
20. *हरिजन*, 4-5-1935
21. सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड-62, 1975, पृ. 70

❑❑❑

# अभिलेखीय स्रोतों के आधार पर ठिकाना चाणोद का ऐतिहासिक अवलोकन

## जसवन्तसिंह

जोधपुर रियासत से सम्बन्धित ऐतिहासिक दस्तावेजों की एक लम्बी शृंखला राजस्थान राज्य अभिलेखागार एवं राज्य के विभिन्न पुस्तकालयों में संरक्षित है। इनकी प्रकृति पुरालेखीय (archival) व अपुरालेखीय (non-archival) दोनों प्रकार की है। यह दस्तावेज राज्य के केन्द्रीय इतिहास को ही नहीं बल्कि स्थानीय ठिकानों के साथ केंद्रीय सत्ता के संबंधों को भी प्रकट करते हैं। इन अभिलेखों में ठिकाने को स्थापित करने की सूचना के साथ ही उक्त क्षेत्र की रेख व राजस्व की आमदनी को देखा जा सकता है। इन राजकीय अभिलेखों के अतिरिक्त ठिकानों द्वारा भी नीजी स्तर पर आय-व्यय के हिसाब-किताब के रख-रखाव हेतु विभिन्न प्रकार की लेखा व जमा-खर्च की बहियों का सृजन किया गया, इसके साथ ही ठिकानों की ऐतिहासिकता को प्रकट करने के उद्देश्य से ठिकानेदारों द्वारा समय-समय पर *ख्यातों, तवारीखों* एवं *वंशावलियों* की रचनाएं करवाई गई। इसके अतिरिक्त ठिकाने के जागीरदारों के चरित्र व शौर्य के महिमा-मंडन के लिए कई प्रकार की साहित्यिक रचनाएँ भी उनके आश्रित चारण एवं भाटों द्वारा की गई, जो यदा-कदा ऐतिहासिक तथ्यों पर भी प्रकाश डालती हैं।

जोधपुर राज्य द्वारा महाराजा जसवन्तसिंह के शासनकाल में, 20 जनवरी, 1888 ई. को ''महकमा तवारीख विभाग'' की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य मारवाड़ राज्य के राजनितिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक इतिहास का पुनर्लेखन करना था। इस उद्देश्य की पूर्ती हेतु राज्य के समस्त जागीरी ठिकानों व अन्य गाँवों के इतिहास के प्रमाणिक साक्ष्यों के रूप में *ख्यातों* व *तवारीखों* की रचनाएँ करवाई गई थी[1], इन रचनाओं में अंकित ऐतिहासिक तथ्यों का निरीक्षण करके ही इनको प्रमाणिकता प्रदान की गई। अतएव, उक्त विभिन्न ऐतिहासिक अभिलेखों के आधार पर ठिकाना चाणोद

के इतिहास की प्रमाणिकता का अध्ययन करने का छोटा सा प्रयास इस शोध पत्र के माध्यम से किया गया है।

रियासतकालीन जोधपुर राज्य में 'चाणोद' मारवाड़ का प्रमुख ठिकाना रहा, जो पूर्व में गोड़वाड़ क्षेत्र के अन्तर्गत रहने के कारण मेवाड़ राज्य के स्वामित्त्व में था। परन्तु, 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में महाराजा विजयसिंह के नेतृत्व में गोडवाड़ क्षेत्र पर मारवाड़ राज्य का अधिपत्य स्थापित हो जाने से यह ठिकाना मारवाड़ में सम्मिलित हो गया था। चाणोद, जोधपुर से 120 कि.मी. दूर स्थित है। यहाँ के ठिकानेदार, मेड़तिया राठौड़ों की प्रतापसिंघोत शाखा से हैं। इस ठिकाने की कुल *रेख* 31000) रुपये और इसके अन्तर्गत कुल 23 गांव थे। चाणोद से सम्बद्ध अभिलेखीय सामग्री के अध्ययन से इसकी भौगोलिक संरचना, देवालय, जल प्रबन्धन, युद्ध अभियान, स्थापत्य वैभव, *रेख-चाकरी, हुकमनामा,* पट्टा प्रणाली, *कुरब-कायदे, अदालती अखत्यार* तथा ठिकाने का वंशक्रम एवं सांस्कृतिक परम्पराओं आदि पर महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। परिणामतः चाणोद ठिकाने के ऐतिहासिक अध्ययन हेतु अपुरालेखीय सामग्री की महती भूमिका मानी जा सकती है।

इस अध्ययन से मारवाड़ राज्य के इतिहास की हमारी समझ और अधिक समृद्ध होगी।

## अपुरालेखीय दस्तावेजों में चाणोद ठिकाना

राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में संग्रहीत *ख्यातें* एवं *तवारिखें* ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। जोधपुर राज्य के विभिन्न ठिकानों एवं गाँवों की *ख्यातें* व *तवारिखें* 20वीं सदी के प्रारंभ में *''महकमा तवारीख विभाग''* के माध्यम से तैयार करवाई गयी थीं।[2] इसी दौरान चाणोद ठिकाने की *ख्यात* व *तवारीख* भी तैयार हुई थी, जिसमें वर्णित सूचनाएं ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण हैं। *चाणोद री ख्यात* के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ठिकाने के पूर्वज जोधपुर राज्य के संस्थापक राव जोधा के पुत्र दूदाजी के वंशज थे। सर्वप्रथम महाराणा सांगा की ओर से प्रतापसिंह को जनोद नामक ठिकाना दिये जाने का उल्लेख ख्यात से ज्ञात होता है। अनन्तर, अनोपसिंह को उक्त महाराणा की ओर से चाणोद ठिकाना 1713 ई. में प्रदान किया गया था। इस ख्यात में ठिकानेदारों के उत्तराधिकारियों जिनमें ठाकुर प्रतापसिंह से लेकर किशोरसिंह तक का विवरण संकलित किया गया मिलता है। इस ख्यात में ठिकानेदारों के विभिन्न सैनिक अभियानों, राज्य की चाकरी, गांवों के पट्टों एवं *रेख* के साथ *कुरब-ताजीम* का विवरण मिलता है।[3]

इसी प्रकार ठिकाने की *तवारीख* इस क्षेत्र की भौगोलिक संरचना पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए जानकारी देती है कि इस गांव की मिट्टी मटियाली एवं रेतीली है और इस गांव में कुल 2 जलाशय एवं 96 कुएं विद्यमान होने के साथ ही कुएं की गहराई और पानी की गुणवत्ता पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही गांव में वनस्पति के रूप में कैर, बबूल, झाड़ एवं खान-पान में मक्की एवं बाजरा उपभोग में लाने से सम्बद्ध जानकारी के अतिरिक्त यहां पाए जाने वाले वन्य जीवों में हिरण एवं खरगोश का विवरण अंकित है।

*तवारीख* से तत्कालीन ठिकाने की जातीय जनगणना के साथ ही यहां के लोगों का आर्थिक आधार पर विस्तृत विवेचन ज्ञात होता है। इसके अनुसार उस समय राजपूतों के 63, मीणों के 105, मुसलमानों के 50 और महाजनों के 231 घरों के अलावा कृषि कार्य में संलग्न कुल घरों की संख्या 483 का विवरण देते हुए सिरवी एवं घांची लोगों का कृषि कार्यों से जुड़ा होना बताया है। इसके साथ ही उस समय दैनिक उपभोग में काम में ली जाने वाली वस्तुओं की बिक्री हेतु 50 दुकानों का उल्लेख भी सम्मिलित है।

गांव के स्त्री एवं पुरुषों का पहनावा का उल्लेख देते हुए लिखा मिलता है कि यहाँ के लोग 1 *लांग* एवं 2 *लांग* की धोती के साथ ही *अंगरखी, बंडी* एवं *पोतीया* धारण करते हैं वहीं यहाँ के राजपूत एवं महाजन लोग मूठदार पाग एवं आम लोग साधारण पगड़ी धारण करते हैं। ठिकाने में कुल 14 मन्दिरों का उल्लेख देते हुए प्रत्येक मन्दिर का नामोल्लेख के साथ ही उस मन्दिर का निर्माण वर्ष भी *तवारीख* से ज्ञात होता है। *तवारीख* में यहाँ के ब्राह्मण लोगों का विष्णु धर्म और ईष्ट सालग राम को, वहीं ठिकानेदारों का ईष्टदेव शिव को माना है और कुलदेवी के रूप में नागणेचिया माता को प्रधानता दी है।

*तवारीख* में लिखित विवरण क्रमानुसार 1 से 55 तक मिलता है जिसके प्रत्येक चरण में गांव के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। तवारीख से ठिकाने में बने महल, कोट, बुर्ज आदि के उल्लेख के साथ ही ठिकानेदारों का सर्वप्रथम मेवाड़ राज्य अनन्तर मारवाड़ राज्य की सेवा में रहने का विवरण देने के साथ ही यहाँ के ठिकानेदारों के द्वारा जोधपुर राज्य के सैनिक अभियानों में इनकी भूमिका पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है जिसकी पुष्टि दूसरे स्रोतों से भी होती है। तवारीख के सबसे अन्तिम पृष्ठों पर ठिकानेदारों को चाणोद ठिकाना कौन-कौन से समय राज्य की ओर से ईनायत किया गया उसका भी उल्लेख हुआ है। इसकी पुष्टि भी अभिलेखागार में संग्रहीत *पट्टा बहियों* एवं *सनद* बहियों से होती है।[4]

## पुरालेखीय दस्तावेजों में ठिकाने की ऐतिहासिकता से जुड़े साक्ष्य

चाणोद ठिकाने की ऐतिहासिकता को *ख्यात* एवं *तवारीखों* के अतिरिक्त जोधपुर राज्य के पुरालेखीय दस्तावेजों में भी देखा जा सकता है। इस दृष्टि से अनेक दस्तावेजों को श्रेणीबद्ध किया गया हैं, जिनमें पट्टा बहियाँ, हकीकत बहियाँ, हकीकत खाता बहियाँ तथा सनद परवाना बहियाँ मुख्य हैं, इन दस्तावेजों के साक्ष्य में ठिकाने की ऐतिहासिक महता को शोध जगत के समक्ष मुखर करने का प्रयास किया गया है। संभवतः राजकीय दस्तावेजों के सन्दर्भ इस तथ्य को पुष्टता प्रदान करेंगे। इस दृष्टि से इन दस्तावेजों से संकलित की गई सूचनाओं को नीचे लिपिबद्ध किया गया है।

## ठिकाने की स्थापना एवं विकास-क्रम की जानकारी का मुख्य ऐतिहासिक स्रोत हकीकत एवं पट्टा बहियां

चाणोद ठिकाने के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास लेखन में जोधपुर की *हकीकत बही* का अभूतपूर्ण योगदान रहा है। जोधपुर राज्य में किसी राजकीय मेहमानों के आगमन पर दूसरे जागीरदारों की भांति चाणोद ठिकानेदार भी अपनी सेवाएं देते थे। *हकीकत बही* से ज्ञात होता है कि 1936 ई. में बड़ौदा के महाराजा जीयाजी राव के आगमन पर[5], 1937 ई. में मुम्बई के गवर्नर जनरल के आगमन पर[6], 1939 ई. में उदयपुर के महाराणा भोपालसिंह के आगमन पर[7] चाणोद का ठाकुर मुकनसिंह उनकी अगुवाई में सम्मिलित था। बही में अदालती अख्तियार के तौर पर मारवाड़ के ठिकानेदारों को तीन श्रेणी में विभक्त किया गया था जिनमें चाणोद ठिकानेदार को प्रथम दर्जे के अख्तियार प्रदान किये गये थे।[8]

*हकीकत बही* में ठाकुर मुकनसिंह के समय यह अधिकार जोधपुर के महाराजा उमेदसिंह ने दिये थे इसके साथ ही मारवाड़ के दूसरे जागीरदारों को कौन-कौन से अदालती अख्तियार दिये गये उसका भी विवरण इस बही में संकलित किया गया है। बही से यह भी ज्ञात होता है कि 1936 ई. में मुकनसिंह ने जोधपुर पहुँच कर महाराजा से भेंट कर अपनी ओर से नजर-नौछावर की थी।[9] वहीं 1937 ई. में ठाकुर मुकनसिंह के पुत्र के विवाह के अवसर पर महाराजा उमेदसिंह चाणोद आए थे।[10] अतः ठिकाने के सामाजिक पक्ष को उजागर करने में *हकीकत बही* का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।[11]

इसी प्रकार, जोधपुर राज्य की *पट्टा बहियों* में चाणोद ठिकाना कब, किस राज्य काल में दिया गया उसका उल्लेख मिलता है। इन बहियों के अनुसार यह ठिकाना सर्वप्रथम ठाकुर तेजसिंह विसनसिंघोत को महाराजा मानसिंह की ओर

से वि.सं. 1867/1810 ई. की *उनालू साख*[12] में प्रदान किया गया था।[13] परन्तु तेजसिंह की मृत्यु के बाद इसे खालसा क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया गया था।

तदनन्तर, महाराजा मानसिंह के समय ठाकुर तेजसिंह के पुत्र जसवंतसिंह को वि.सं. 1891/1834 ई. में पुनः *उनालू साख* में आवंटित किया गया था। उस समय जसवंतसिंह को राज्य में हुकमनामा शुल्क के रूप में 21000 रुपये किये गये जिसमें से 1000 रुपये की छूट कर 20000 रुपये जमा करने निश्चित किये गये थे। ठिकाने के इतिहास लेखन में इन पट्टों का बड़ा महत्त्व रहा है, उस समय की पट्टा प्रणाली में ठिकाने की पट्टा रेख से उनकी राज-दरबार में सुदृढ़ स्थिति का भी पता चलता है।[14]

इसी तरह मारवाड़ राज्य का एक अन्य दस्तावेज *हकीकत खाता* बही, जो विभिन्न ठिकानेदारों अथवा अन्य जागीरदारों को दरबार द्वारा प्राप्त होने वाले सिरोपाव, कुरब, अन्य विविध सम्मान तथा उपाधियों पर विशेष प्रकाश डालती है। इसी बही में संकलित कई सन्दर्भ चाणोद ठिकाने के ठिकानेदारों को समय-समय पर दिए गए सम्मानादि की जानकारी भी देते है।

चाणोद ठिकानेदार जोधपुर राज्य के प्रति निष्ठावान बने रहे थे। उनकी सेवाओं से प्रभावित होकर राज्य की ओर से उन्हें कुरब-ताजीम के सम्मान के साथ ही हाथ का कुरब, घोड़ो आगे खड़न का कुरब, सामे बैठण रो कुरब ईनायत होते रहे। जोधपुर राज्य की हकीकत खाता बही से ज्ञात होता है कि 1771 ई. में ठाकुर विसनसिंह[15], 1791 ई. में ठाकुर गुमानसिंह[16], 1805 ई. में ठाकुर तेजसिंह और 1843 ई. में ठाकुर जसवंतसिंह को ताजीम सिरोपाव राज्य की ओर से प्रदान किया गया था वहीं इन्हें हाथ का कुरब भी मिला था।[17] अपुरालेखीय दस्तावेजों यथा-*ठिकानो रे जागीरां* रो हाल में उनके द्वारा प्राप्त किये गये सम्मानों के अतिरिक्त उस ठिकाने पर अपना अधिपत्य बनाये रखने वाले ठाकुरों के वंश-क्रम की भी महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इसमें चाणोद ठिकानेदारों के वंशक्रम के साथ ही उनके भाई बंधु घाणेराव ठिकाने इत्यादि का भी विवरण संजोया गया मिलता है। इस दस्तावेज में चाणोद ठिकाने का वंशक्रम इस प्रकार उद्धृत है- वीरमदे - प्रतापसिंह - गोपालदास - किसनदास - दुर्जनसिंह -गोपीनाथ - अनोपसिंह - शिवसिंह - विसनसिंह - तेजसिंह - जसवंतसिंह - लिछमणसिंह - किशोरसिंह - गुलाबसिंह - मुकनसिंह इत्यादि।[18] यह वंश सूची इस ठिकाने के इतिहास-क्रम को अनवरत रूप से बने रहने की ओर संकेत करती है।

## ठिकाने को राज्य द्वारा प्राप्त अधिकार

जैसा कि विदित है चाणोद ठिकाना महाराजा मानसिंह के शासन काल में सर्वप्रथम स्थापित किया गया था। इसके बाद से क्रमोन्नत रूप से इस ठिकाने ने राज्य में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाया। तत्कालीन दस्तावेजों मुख्यतः *सनद परवाना* बहियाँ एवं *लाग-बाग*[19] की बहियों की लम्बी श्रृंखला इस सम्बन्ध में अहम् जानकारी मुहैया कराती है। चाणोद ठिकाने के पट्टे के गांवों से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की सनदों, जो *घर-बाब, हासल* और *दाण* कर से सम्बन्धित हैं, द्वारा महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। 1805 ई. में ठाकुर तेजसिंह के समय राज्य की ओर से घर-बाब के सम्बन्ध में सनद जारी की गई थी वहीं 1823 ई. में हासल के सम्बन्ध में[20] और 1823 ई. में ही दाण के सम्बन्ध में ठिकाने को सनद जारी करने का उल्लेख मिलता है।[21] 1812 ई. की सनद से ज्ञात होता है कि ठिकाने के ठाकुर तेजसिंह के समय उन्हें ठिकाने से नमक निकालने का फरमान जारी हुआ था। इस सम्बन्ध में राज्य की ओर से लिखा गया कि इसमें किसी भी प्रकार की खेचल (परेशानी) नहीं करें।[22]

इसी अनुक्रम में, ठिकाने के आर्थिक इतिहास को प्रकट करने के लिये ठिकाने की लाग-बाग बहियां बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यह बहियां 19वीं शताब्दी से 20वीं शताब्दी के बीच की हैं। बहियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यहाँ के ठिकानेदारों के द्वारा मुख्य रूप से मुकाता[23], सेरिणा[24], घर-बाब, दाण[25] कर, खरखर[26], पानचराई[27], साड़ी कर[28], आदि लिये जाते थे जो मुख्य रूप से कृषक कार्य में लगे सीरवी, घांची, पटेल तथा देवासी जाति के लोगों से वसूल किया जाता था।[29]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि चाणोद ठिकाने का मारवाड़ राज्य में महत्वपूर्ण स्थान था, जिसने राज्य की राजनीति को प्रभावित ही नहीं किया बल्कि राठौड़ शासकों को समय-समय पर हरसंभव सहयोग भी प्रदान किया। परिणामस्वरूप यहाँ के ठाकुरों को तत्कालीन महाराजाओं द्वारा समय-समय पर विभिन्न प्रकार के सम्मानों व उपाधियों से नवाजा गया। दूसरी ओर, यहाँ के इतिहास को शोध जगत के समक्ष रखने का श्रेय उन ऐतिहासिक स्रोतों को दिया जा सकता है जो इस ठिकाने से जुड़े ऐतिहासिक एवं प्रमाणिक तथ्यों को अपने में समाहित किये हुए है। अतः विभिन्न प्रकार की अभिलेखीय सामग्री चाणोद ठिकाने की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक इतिहास पर महत्त्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध कराती है। उस समय के ठिकानेदारों को आवंटित गांवों के तुलनात्मक अध्ययन के साथ ही राज्य में दूसरे ठिकानेदारों के साथ

उनके सम्बन्धों और राज्य में उनकी भूमिका को दर्शाने में यह स्रोत प्राथमिक स्रोतों के रूप में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

## संदर्भ


1. राजेन्द्र कुमार, 'मारवाड़ के सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं ऐतिहासिक अवलोकन हेतु 'महकमा तवारीख' की प्रासंगिकता', *ग्लोबल रिसर्चर व्यू*, वोल्यूम-3(2) जन.-जून, 2019, संपा. राजेन्द्र कुमार, पृ. 10-14
2. वही
3. *चाणोद ख्यात*, क्रमांक 3417, बंधांक 74, ग्रंथांक 22, अपुरालेखीय जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
4. *चाणोद की तवारीख*, क्रमांक 4020, बंधांक 89, ग्रंथांक 32-33, अपुरालेखीय जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
5. *हकीकत बही*, नं. 56, वि.सं. 1992-1993/1935-36 ई., पृ. 369, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
6. वही, पृ. 410-412
7. वही, नं. 58, वि.सं. 1994-1995/1937-38 ई., पृ. 233-237
8. वही, पृ. 213-222
9. वही, नं. 56, वि.सं. 1992-1993/1935-36 ई., पृ. 258
10. वही, पृ. 483-484
11. *जोधपुर राज्य की पट्टा बही*, वि.सं. 1867/1810 ई., पृ. 75
12. रबी की फसल की पैदावार के आधार पर यह आवंटन किया गया था। तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में पट्टों के अन्तर्गत गांवों या भूमि का आवंटन *सियाळू साख* (खरीफ की पैदावार के आधार पर) अथवा *उन्हाळू साख* के आधार पर किया जाता था।
13. *जोधपुर राज्य की पट्टा बही*, वि.सं. 1867/1810 ई., पृ. 75, जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
14. वही, वि.सं. 1891/1834 ई., पृ. 77
15. *हकीकत खाता बही*, नं. 10, वि.सं. 1821-1860/1764 ई., पृ. 138-139, जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
16. वही, पृ. 138-139
17. वही, नं. 12, वि.सं. 1862-1870, 1805-1813 पृ. 254

18. *मारवाड़ रा जागीरदारां रो विवरण,* ग्रंथांक 8190, राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर

19. राज्य द्वारा लगाए जाने वाले विभिन्न प्रकार के करों के लिए समग्र रुप से *लाग-बाग* शब्द का प्रयोग किया जाता था।

20. *सनद परवाना बही,* नं. 75 वि.सं. 1880, 1823 ई. पृ. 347, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर

21. वही, पृ. 380

22. वही, नं. 64 वि.सं. 1869, 1812 ई. पृ. 137, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर

23. कर की वसूली करने के लिए किसी व्यक्ति विशेष अथवा फर्म को दिया जाने वाला ठेका।

24. यह कर मारवाड़ में सेरी अथवा *सेरीणो* कहलाता था। जो किसान सिंचाई के द्वारा खेती करते थे उन्हें सेरी नामक हासल चुकाना पड़ता था। *सेरीणो* का अनाज रूप में भुगतान करना पड़ता था। *सेरीणो* की दर 1 *मण* धान के पीछे 3 सेर निर्धारित थी। राजेन्द्र कुमार, 'थार मरुस्थल में जल वितरण से सम्बद्ध कराधान प्रणाली (18-19वीं सदी के सन्दर्भ में)', *जल जीवन और समाज,* संपा. जिब्राईल, एनी बुक्स, दिल्ली, 2019, पृ. 110

25. व्यापारिक चूंगी।

26. *खरखर* – यह कर उन किसानों से वसूल किया जाता था जो मूंग और मोठ की खेती करते थे।

27. *पानचराई* – जो पशु पेड़ की पत्तियां व घास खाते है, यथा- ऊँट, भेड़ व बकरी आदि पर लगने वाला चराई कर।

28. *साड़ी कर* – यह कर ठिकानों में जाट, सिरवी तथा पीटल आदि जातियों, जो कृषि व्यवसाय में संलग्न थी, से प्राप्त किया जाता था।

29. (अ) *ठिकाणे रे जमा खरच री बही,* वि.सं. 1916, ठिकाणा चाणोद संग्रह
(ब) *मुकाता रे खरच खाता री बही,* वि.सं. 1902, ठिकाणा चाणोद संग्रह

शोधार्थी
इतिहास विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राजस्थान)

# कस्बा झझू (कोलायत) की ऐतिहासिक सर्वे रपट-1

• डॉ. रीतेश व्यास

कोलायत तहसील में बहुत से ऐसे गाँव है जहां पालीवाल निवास करते थे। यह एक ऐसा जाति-समूह था जो सामान्यतः रेगिस्तानी क्षेत्रों में निवास करता था एवं खेती एवं व्यापार से सम्बद्ध था। इस वर्ग के बारे में दस्तावेजीय सामग्री अत्यतः ही कम उपलब्ध होती है इसलिए *राजस्थान आर्कियोलोजी एण्ड एपिग्राफी कांग्रेस* ने यह निर्णय लिया कि इस परिस्थिति में भौतिक सर्वेक्षण के द्वारा इस समूह के इतिहास का अध्ययन किया जाए। इस प्रयोजन हेतु सर्वप्रथम हमने इस तहसील के झझू गाँव का चयन किया। इस चयन की पृष्ठभूमि में डिंगल एवं राजस्थानी भाषा के उद्भूत विद्वान स्वर्गीय श्री मूलचंद 'प्राणेश' का झझू गाँव के शिलालेखों पर आधारित आलेख (झझू ग्राम के कतिपय प्राचीन शिलालेख) **जूनी ख्यात** पत्रिका में प्रकाशित था। उपलब्ध शिलालेख में सबसे प्राचीन दो शिलालेख वि.सं. 1270/1213 ई. एवं वि.सं. 1342/1285 ई. के हैं। जिन्होंने हमारी रुचि को द्विगुणित कर दिया। इन शिलांकित दस्तावेजों के आधार पर विद्वान लेखक ने इस गाँव को बीकानेर स्थापना के पूर्व का बताया है जो सही प्रतीत होता है। सर्वेक्षण हेतु इस गाँव के चयन का द्वितीय कारण इस बात की जानकारी प्राप्त करना भी था कि इस क्षेत्र को पालीवालों ने अपने निवास-स्थल के रूप में क्यों चुना? क्या यह गाँव पूर्व-मध्यकाल में जैसलमेर

 ISSN 2278-4632 

के व्यापारिक मार्ग पर स्थित था? इन्हीं प्रश्नों को लेकर झझू गाँव का तीन बार सर्वेक्षण किया गया।

झझू के आकर्षण का एक अन्य कारण यहां बिखरी पड़ी पुरासम्पदा भी रहा है। यहां के निवासियों के अनुसार पालीवालों के इस गाँव में 12 मौहल्लें, 12 छतरियां तथा 12 कुएं हैं। अर्थात् यह अत्यन्त रुचिकर सूचना थी जिसकी पुष्टि हेतु हमारी टीम ने सर्वेक्षण का कार्य प्रारंभ किया। गाँव के मध्य स्थित बाजार एवं बस स्टैण्ड के पास *छतरी समूह* स्थित है जो पालीवाल ब्राह्मणों से सम्बन्धित हैं। यह छतरी समूह दो खण्डों में विभक्त है अर्थात् यहां बनी छतरियां एक ही सतह पर बनी है, लेकिन इनकों कालक्रम की दृष्टि से दो भागों में विभक्त कर रखा था। पहले समूह में कुल 12 छतरियां एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं, प्रत्येक छतरी का दूसरी छतरी से स्तंभों से जुड़ाव है तथा प्रत्येक के नीचे एक शिलालेख (देवली स्वरूप) लगा है। दुलमेरा/लाल पत्थर की बनी छतरियां लगभग 4 फीट ऊँचे चबूतरे पर बनी है। छतरियों की ऊँचाई लगभग 10 फीट है। छतरियों की छत ऊपर से एकल है।

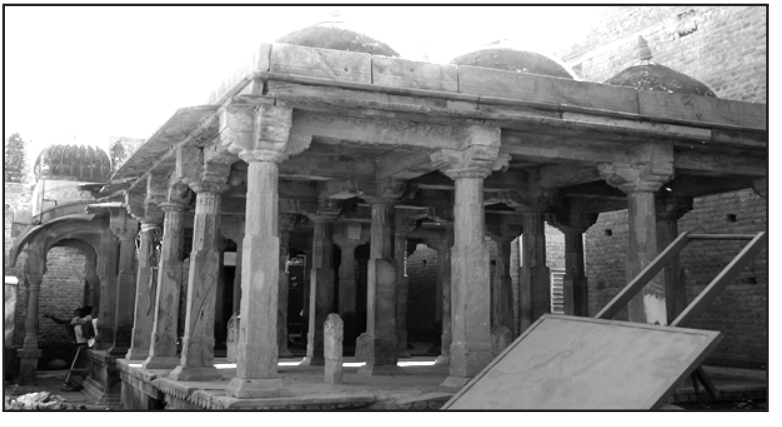

छतरियों पर लगें शिलालेख *जैसलमेरी पत्थर, संगमरमर* तथा *स्थानीय पत्थर* के बने हैं। संगमरमर के पत्थर की देवली सुंदर व सुदृढ़ है जो करीब 150 वर्ष पहले की है, लेकिन पीले व लाल पत्थर की देवलियां सामान्य बनावट की हैं। सभी शिलालेख में तिथि का अंकन विक्रम संवत् व शक संवत् दोनों में किया गया है। दुर्भाग्यवश यहां स्थापित शिलालेखों में कुछ ही सही स्थिति में हैं, कुछ टूट गए तो चार-पांच तो गायब ही है। स्थानीय शिक्षक व जागरूक नागरिक श्री किशन लाल कांटियां ने बताया कि एक शिलालेख मेरी नजर में आया तो मैंने उसे छतरियों की छत पर रख दिया है जो अब भी सुरक्षित है।

इन छतरियों की छत एवं गुम्बद के भीतर पत्थर की कोर को काटकर खुरेचकर विभिन्न धार्मिक प्रसंगों का अंकन किया गया है। प्रत्येक छतरी के

भीतर के हिस्से को 8 से 10 खण्डों में बांटा गया है। छतरी के भीतरी भाग में कृष्ण लीलाएं, विष्णु के विभिन्न स्वरूप, यथा *राम, कृष्ण, नृसिंह अवतार, लोक देवता रामदेव जी* आदि। एक छतरी में गरूड़जी भगवान विष्णु को सिर पर बैठाकर ले जाते हुए भी दिखाए गए है। एक स्थान पर पेड़ पर झूला-झूलने का अंकन भी है। वानर समूह, हनुमान जी, सात घोड़ों पर सवार सूर्य भगवान, नर्तक समूह, गायों के बीच खड़े कृष्ण, एक छतरी में सिर्फ गायों के समूह को ही दर्शाया गया है। सभी छतरियों के मध्य/केन्द्र में फूल की आकृति बनी है। बीच के शिलापट्टों पर गोल फूल है।

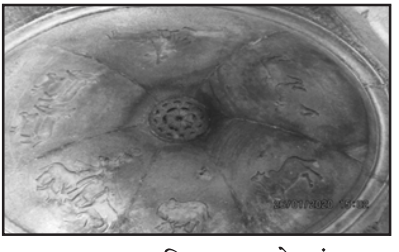

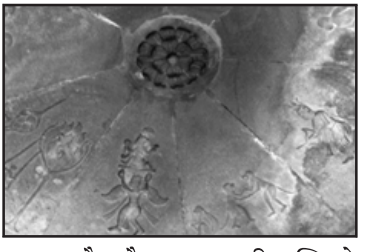

पत्थर पर किया गया ये अंकन उभरा हुआ है और बनावट की दृष्टि से उत्कृष्ट है। ऐसा लगता है यहां उस समय कुशल कारीगरों का भी निवास था। क्योंकि जितनी कुशलता से ये छतरियां बनी हैं, उतनी ही रूचि पूर्ण तरीके से इनको सजाया भी गया है। छतरी के स्तंभ भी आकर्षक हैं, किसी स्तंभ पर लटकती घण्टियां हैं तो कहीं बेल-बूंटे बने हैं। स्तंभों को जोड़ने वाले तोड़ों पर भी अलग-अलग तरह की फूल-पत्तियों को अंकित किया गया है। पालीवाल ब्राह्मण समाज द्वारा इस तरह का निर्माण वास्तव में

आश्चर्यचकित करने वाला है, क्योंकि वर्तमान में वहां ज्यादा संख्या में पालीवालों का निवास नहीं है। यद्यपि पालीवाल झझू से जैसलमेर तक हमें छोटे-बड़े गांव-कस्बों में मिलते हैं। उनका अपने पूर्वजों के प्रति इस तरह का सम्मान वास्तव में प्रशंसा के योग्य है।

इन छतरी समूहों के मध्य में भी एक शिला-पट्ट पर लेख लिखा है, जिसमें बनवाने वाले का नाम तथा निर्माण तिथि अंकित है। शिलाखंड पर उद्धृत लेख का अंकन व अनुवाद नीचे दिया जा रहा है—

*श्री गणेशाय नमः*

*।।सं. १९२० साके १७९५ व्रषे मिती जेठ वदी १ वार सोमवार दिन प्रतिष्टा करी।।*

*।।उर्जव्रणो जिग करयो व्राह्मण जिमाया देवल करयो व्रा. मयरामः।।*

*देवचंद श्रीचन्द्र चिरणजीव दयाकिसन गंगारामणी वसतरामः।।*

*रामकिसनः वीरदासणी व्रा. प्रहलाद देवीदासणी खुसालो*

*मनछारामाणी सुभवन्तु कलयन भवतु श्रीराम*

*श्रीमाहाराज श्री तेजसंघ जी री पट री वार म हुयो श्री सरदारसंघजी र राज म हुय कारीगर लालु पीडत पीदन बोट कीसणे*

*अनुवादक :* ***डॉ. राजेन्द्र कुमार***

हिन्दी रूपान्तरण : इस छतरी समूह की अधिकांश देवलियां वि.सं. 1920 शाके 1785 की तिथि ज्येष्ठ वदी 1 सोमवार के दिन प्रतिष्ठापित की

गई थी। इस अवसर पर उजवर्णो व जागरण किया गया, ब्राह्मणों के लिए भोज का आयोजन हुआ था। इस अवसर पर छतरी के एक समूह में पालीवाल ब्राह्मण गौत्र कुलधर के मायाराम, देवचंद, श्रीचंद, चिरंजीव, दयाकिशन गंगारामाणी, वसंतराम तथा दूसरे समूह में ब्राह्मण रामकिशन वीरदासाणी, प्रहलाद देवदासाणी, खुसाल मनछारामाणी आदि ने अपने पूर्वजों की स्मृति स्वरूप देवलियों को प्रतिष्ठापित कर इनके ऊपर छतरियों का निर्माण करवाया। इस लेख से यह भी जानकारी प्राप्त होती है की यह छतरी समूह बीकानेर शासक महाराजा सरदारसिंह के शासनकाल में पट्टायत श्री महाराज तेजसिंहजी द्वारा प्रदत भूमि पर निर्मित करवाया गया था। अन्त में छतरी का निर्माण करने वाले कारीगरों यथा लालु पंडित, पीदन आदि के नामोल्लेख भी मिलते हैं।

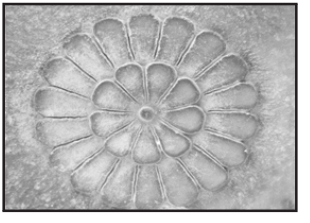

झझू में केवल यही स्थान आकर्षक नहीं है कस्बे के उत्तर दिशा में और आगे जाने पर हमें दो अलग-अलग छतरी समूह दिखे। दुर्भाग्य से ये दोनों स्थान पहली वाली छतरी समूह की अपेक्षा खराब स्थिति में थे। एक समूह तो (रामकिशन जी) हमें घर की परिधि में मिला जिसमें तीन शिलालेख लगे थे।

शिलालेख पीले पत्थर के थे तथा सामान्य से बड़े थे। इन छतरियों में भी कई धार्मिक स्वरूपों को उकेरा गया था।

अज्ञानतावश वहां गोबर के उपले सुखाए गए थे तथा झाड़ ऊग गए थे। एक शिलालेख आधा टूटा हुआ था जिसका दूसरा भाग अनुपलब्ध था। छतरियां अपने मूल स्वरूप में थी। घर की महिलाएं ये जानती थी कि ये किसी की मृत्यु उपरान्त बनाई गई स्मृतियां है, लेकिन उन्होंने उसे देवीय स्वरूप स्वीकार नहीं किया था, इसलिए उनकी दुर्दशा हो गई थी।

इन दूसरे छतरी समूह के पास हमें एक पुराना कुआं भी मिला। यद्यपि यह अब बंद था, लेकिन पास में एक शिलास्तंभ भी लगा हुआ था। स्तंभ खुले में था, बारिश के कारण पत्थर क्षरण हो चुका था। अतः लेख स्पष्ट नहीं था। छतरी समूह के पश्चिम में एक पुरातन मन्दिर के अवशेष भी थे। बबूल के वृक्ष की झाड़ियों के बीच, केवल मूल गर्भगृह ही था। न इसके समकक्ष कुछ था, न सिढ़ियां, मंदिर में मूर्ति भी नहीं थी। किसनाराम जी ने बताया ये अवशेष कभी लक्ष्मीनारायण मन्दिर का स्वरूप थे, यहां प्रतिष्ठापित मूर्ति कई वर्ष पहले राजकीय म्यूजियम, बीकानेर द्वारा अवाप्त करली गई थी।

उपर्युक्त ऐतिहासिक स्थलों के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण भवन, देवालय, तालाब एवं कुएं हैं जिनका सर्वेक्षण अभी शेष है। इस सर्वेक्षण का नेतृत्व प्रो. बी.एल. भादानी ने किया एवं टीम के अन्य सदस्यों में डॉ. राजेन्द्र कुमार, डॉ. गोपाल व्यास एवं डॉ. रीतेश व्यास सम्मिलित थे। इस कार्य हेतु श्री किशनाराम जी कांटिया एवं पालीवाल आदि स्थानीय महानुभावों ने सहयोग किया जिसके लिए हमारी टीम उनका आभार व्यक्त करती है।

रपट प्रस्तुतकर्त्ता

**डॉ. रीतेश व्यास**

❑❑❑

# इतिहास एवं संस्कृति स्पर्श बोध : मो. फारूक चौहान

## • डॉ. नितिन गोयल

इतिहास एवं साहित्य लेखन में पारंपरिक सीमाओं से हटकर अपनी विशिष्ट पहचान रखने वाले **डॉ. गिरिजाशंकर शर्मा** पर केन्द्रित यह ग्रन्थ **इतिहास एवं संस्कृति स्पर्श बोध**, **(डॉ. गिरिजाशंकर शर्मा पर केन्द्रित)** उनके कृतित्व की सहज-सरल-सादगीपूर्ण बानगी है।

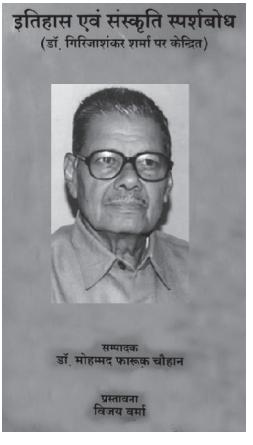


गत पचास वर्षों से समय और समाज के झांझावतों के बीच अपनी कलम से अनवरत मीलों की यात्रा करने वाले डॉ. शर्मा के विस्तृत व बिखरे हुये रचना-कर्म को इस पुस्तक के सम्पादक डॉ. मोहम्मद फारूक़ चौहान ने बखूबी संजोने का कार्य किया है।

सही तो यह है कि **डॉ. गिरिजाशंकर शर्मा** ने एक शोध साधक, अभिलेखकर्ता, संस्कृतिकर्मी, एवं इतिहासवेत्ता के रूप में जो रचनाकर्म किया हैं, उसने न केवल भारत के युवाओं, शोध अध्येत्ताओं का ही ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया बल्कि विश्व के इतिहासविद्ों के बीच डॉ. शर्मा का सम्मानजनक स्थान भी सुरक्षित किया हैं।

डॉ. शर्मा का स्मारकीय कार्य **मारवाड़ी व्यापारी** की पुस्तक समीक्षा कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, अमेरिका के प्रो. संजय सुब्रमण्यम ने की थी। इस पुस्तक से जुड़े प्रश्नों को विभिन्न केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के शोध साक्षात्कारों में पूछा जाना, एक चलन रहा है। डॉ. शर्मा के सहज, सुलभ, सौम्य, मददगार स्वभाव के कारण देश-विदेश के विभिन्न विश्वविद्यालयों से शोधार्थी नियमित रूप से बीकानेर ज्ञान प्राप्ति हेतु आते थे, जो उनके प्रभावी लेखन की स्वीकरोक्ति का भी द्योतक है। इटली के उदीने विश्वविद्यालय द्वारा एल.पी. टैस्सीटोरी पर

आयोजित सेमीनार में डॉ. शर्मा ने अध्यक्ष का दायित्व भी निभाया था। जापान के प्रो. मेसानोरी साटो अपने राजस्थान इतिहास संबंधी शोध में डॉ. शर्मा से नियमित चर्चा किया करते थे।

इसी क्रम में, पुस्तक के सम्पादक मंडल डॉ. शान्ता, डॉ. नलिनी, डॉ. चेतना, डॉ. चन्द्रलेखा ने गिरिजाशंकर जी द्वारा सृजित बहुआयामी साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक रचनाओं को प्रस्तुत पुस्तक में मूल रूप में एवं तालिकाबद्ध कर भावी पीढ़ी के लिये अमरता प्रदान की है। साहित्य समरूपता में रचे बसे डॉ. शर्मा द्वारा रचित कहानियों एवं काव्य साधना के अंश को पुस्तक में स्थान देकर, उनकी सृजनात्मक दृष्टि को उजागर किया गया है। राजस्थानी भाषा में भी डॉ. शर्मा की कलम सवाई रही है, जिसका प्रमाण है राजस्थानी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अकादमी, बीकानेर से प्रकाशित प्रसिद्ध जागती जोत पत्रिका में प्रकाशित डॉ. शर्मा की दो दर्जन से अधिक रचनाएं। आज भी इनकी रचनाएं ऑनलाइन माध्यम से वेबसाइट पर निरन्तर देखी जाती है। पुस्तक में संयोजित डॉ. शर्मा के अकादमिक संस्मरण जिज्ञासु पाठक के लिये पुस्तक को मनोरंजक व रुचिपूर्ण बनाते है।

पुस्तक की प्रस्तावना में जाने-माने लोक साहित्य, कला एवं संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान, जवाहर कला केन्द्र के संस्थापक महानिदेशक श्री विजय वर्मा ने डॉ. शर्मा को 'सतत कर्मण्यता जीवन का पर्याय एवं बीकानेर के साहित्यिक-सांस्कृतिक उत्कर्ष की जीवन्त निशानी' बताकर गागर में सागर भरने का प्रयास किया है। प्रो.बी.एल. भादानी ने इस पुस्तक को डॉ. शर्मा की 'छः दशक की अकादमिक यात्रा का मुकम्मल दस्तावेज' बताया है एवं पुस्तक की अनमोलता को चरितार्थ किया है। इसी क्रम में सम्पादक डॉ. मो. फारूक़ चौहान ने डॉ. शर्मा के लिये 'आत्मस्फूर्त मार्गदर्शक' उपमा का बहुत ही संगत प्रयोग किया है।

स्वयं समीक्षक ने अभिलेखागारीय अनुभव के दौरान यह पाया कि राष्ट्रीय अभिलेखागार में अभिलेखीय डिप्लोमा के दौरान डॉ. शर्मा द्वारा लिखा गया लघु शोध-प्रबंध (Dissertation) आज भी अभिलेख प्रशिक्षुओं के बीच सर्वाधिक मांग वाला लघु शोध-प्रबंध है। राज्य अभिलेखागार में डॉ. शर्मा के सेवाकाल में बनी विवरणात्मक सूचियाँ शोध के लिये राजस्थान अभिलेखागार की कुंजियां हैं, जो उनके बाद फिर निर्मित नहीं की जा सकी।

ग्रन्थ के अन्त में सम्मिलित चित्र विथिका डॉ. शर्मा के व्यक्तित्व की

जीवन्तता एवं उनके 'मनुष्य से ज्ञानरूपी संस्थान' बनने की यात्रा को प्रस्तुत करती हैं। अन्ततः यह पुस्तक वर्तमान एवं भावी शोधवेत्ताओं के लिये मार्गदर्शक सिद्ध होगी, जो डॉ. गिरिजाशंकर शर्मा जैसा व्यक्तित्व बनने की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्रदान करेगी।

समीक्षक : **डॉ. नितिन गोयल**
वरिष्ठ अनुसंधान अधिकारी
राज. प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, बीकानेर
nitinscholar@gmail.com

पुस्तक का नाम : **इतिहास एवं संस्कृति स्पर्शबोध**
**(डॉ. गिरिजाशंकर शर्मा पर केन्द्रित)**
प्रकाशक : विकास प्रकाशन
वर्ष : 2019
मूल्य : 600.00 (छः सौ मात्र)
पृष्ठ : 306

---

**फार्म 4 (नियम 8)**

| | |
|---|---|
| प्रकाशक स्थान | : श्रीडूँगरगढ़ (बीकानेर) राजस्थान |
| प्रकाशन अवधि | : अर्द्धवार्षिक |
| मुद्रक का नाम | : महर्षि प्रिण्टर्स, श्रीडूँगरगढ़ (बीकानेर) |
| क्या भारत का नागरिक है? | : हाँ |
| प्रकाशक का नाम | : महावीर प्रसाद माली |
| क्या भारत का नागरिक है? | : हाँ |
| पता | : मरुभूमि शोध संस्थान, श्रीडूँगरगढ़ (बीकानेर) |
| सम्पादक का नाम | : प्रो. बी. एल. भादानी |
| क्या भारत का नागरिक है? | : हाँ |
| राष्ट्रीयता | : भारतीय |
| पता | : रागंड़ी चौक, बीकानेर (राज.) |

उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों

मैं महावीर प्रसाद माली एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिया गया विवरण सत्य हैं।

**महावीर प्रसाद माली**
प्रकाशक के हस्ताक्षर

# A Discovery—एक खोज एक अद्भुत अनुभव

## • बलदेवदास रंगा

**बलदेवदास रंगा की A Discovery–एक खोज एक अद्भुत अनुभव–** नामक पुस्तक प्रारंभ से अन्त तक पढ़ने का सुअवसर मिला। ग्रन्थ के उपशीर्षक ने मेरी अभिरुचि को द्विगुणित कर दिया जिसमें लेखक ने पाश्चात्य भाषाओं में संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी एवं बीकानेर बोली के सजात शब्दों की पहिचान करने का श्रमसाध्य कार्य किया गया है। वास्तव में ग्रन्थ दो भागों में विभाजित है–प्रथम भाग में कुल चौदह खण्ड (अंग्रेजी के A से N तक) हैं जिसमें विद्वान लेखक ने विश्वभाषाओं की उत्पत्ति, पास्परिक सम्बन्ध एवं उनके प्रभावों को रेखांकित करने का प्रयास किया है। भाषाओं पर केन्द्रित वर्णन भाषा विज्ञान के विद्यार्थियों के साथ-साथ इतिहास एवं दूसरे सामाजिक विज्ञानों के अध्येताओं के लिए अत्यंत लाभकारी एवं ज्ञानवर्द्धक है। इसके अतिरिक्त विद्वान् लेखक ने संस्कृत भाषा की उत्पत्ति के बारे में जो विचार अभिव्यक्त किया है उस पर आपत्ति हो सकती है। भाषाओं का इतिहास मानव के इतिहास से सम्बद्ध है उसे पारलौकिक पद पर स्थापित करना हमारी ऋषि परम्परा पर प्रश्नचिह्न लगाने जैसा है। भाषाओं की यात्रा के बारे में पुख्ता तौर पर कुछ कह पाना थोड़ा मुश्किल कार्य है। इसलिए पूरे दावे के साथ यह कहना कि 'भारत ही वह स्थान है जहाँ से सब जातियां और भाषाएं अलग-अलग दिशाओं में पहुँची है' एक 'भ्रमपूर्ण गौरव' की विचारधारा को रूपायित करती है। इसीसे जुड़ा प्रश्न आर्यों से जुड़ा है। आर्य मूलतः भारत के निवासी थे, या फिर मध्य एशिया या अन्य किसी स्थान से भारत में आए थे, इस प्रश्न पर विद्वान इतिहासकारों के मध्य गहरे मतभेद हैं।

तदुपरांत लेखक ने अपभ्रंश भाषाओं के अध्याय में शब्दों की यात्रा या दूसरी भाषा में संस्कृत एवं राजस्थानी शब्दों के प्रवेश या प्रयोग की ओर संकेत किया है। उदाहरणार्थ चीनी शब्दों का महाभारत तथा मनुस्मृति में प्रवेश एवं इसी प्रकार चीनी भाषा के शब्दों में संस्कृत शब्दों का उपयोग भाषा के आदान-प्रदान का द्योतक है। ठीक उसी प्रकार उज्बेकिस्तान में राजस्थानी शब्दों का प्रयोग पारस्परिक व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों का दर्शाता है। इसके अतिरिक्त अन्य भाषाओं के साथ भारतीय भाषाओं के आदान-प्रदान पर भी विद्वान लेखक ने संकेत किया है जो निश्चित ही हमारे ज्ञान को विस्तारित करता है। लेकिन शब्दों या भाषा का अन्य देशों की भाषाओं के साथ सम्मिश्रण के आधार पर किसी राज्य, देश या जाति पर राजनीतिक विजय या वर्चस्व स्थापित करने का निष्कर्ष निकालना खतरों

से भरा है। हाँ, इसके आधार पर देशों के मध्य राजनीतिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों में घनिष्टता को अवश्य ही रेखांकित किया जा सकता है।

ग्रन्थ का दूसरा भाग अत्यंत महत्त्वपूर्ण है जिससे शब्दों की यात्रा का अनुमान लगाया जा सकता है। सतरहवें अध्याय में अंग्रेजी में बीकानेरी शब्दों की तालिका अंकित है जो काफी दिलचस्प है। उदाहरणार्थ अंग्रेजी में Aah शब्द बीकानेरी अन्दाज में बोले जाने वाले 'ओ-हो' या 'अ-हा' अंग्रेजी में गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार लेखक ने 1459 अंग्रेजी शब्दों की सूची दी है जिनमें बीकानेरी शब्दों के साथ साम्यता के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि ये यहां की भाषा से लिए गए हैं। उदाहरण के लिए कुछ शब्द नीचे दर्शाए जा रहे हैं :

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| Academic | = | Pedent | – | पढन्त |
| Ad-Age | | अेडीज (कहावत) | – | आडी |
| Ado (अेडू) | | अड़ियल | – | अड़ूं |
| Adore | | अतिप्रेम करना | – | डोरे डालना |
| Ug-ly | | अग्ली | – | ऊगली=सूगली |

लेखक ने अंग्रेजी की सम्पूर्ण वर्णमाला के आधार पर शब्दकोष तैयार किया है एवं बीकानेरी शब्दों के साथ साम्यता बिठाने का दुरूह परन्तु प्रशंसनीय कार्य किया है। इसके साथ ही अनुक्रमणिका तालिका भी दी है। जिसमें अंग्रेजी शब्द, उच्चारण, संक्षिप्त बीकानेरी शब्द एवं हिन्दी में अर्थ दिया है ताकि पाठक इसके आधार अंग्रेजी एवं बीकानेरी शब्दों के मध्य सम्बन्ध को सरलता से समझ सकें। सही अर्थों में श्री रंगाजी ने पाठक के सम्मुख सरलीकृत स्वरूप प्रस्तुत करके उनके लिए पुस्तक का पठन सुगम बना दिया है।

अन्त में चार भाषाओं हिब्रू अरेबिक, ग्रीक, रशियन एवं संस्कृत वर्णों की तालिका एवं इन्डो-यूरोपियन भाषाओं की सारणी देकर पाठकों को सही अर्थों में ऋणी बना लिया है।

रंगाजी का यह ग्रन्थ उनके श्रम एवं अध्ययन को दर्शाता है। विभिन्न विदेशी भाषाओं के गहन ज्ञान के साथ अपनी मायड़ भाषा से (बीकानेरी) लगाव उनकी अन्तर्दृष्टि को दर्शाता है। एक प्रकार से यह ग्रन्थ आंग्ल एवं बीकानेरी भाषा का समानान्तर शब्दकोष है जो पाठकों के लिए अत्यंत उपयोगी है।

सम्पादक : **बी.एल. भादानी**

**A Discovery — एक खोज एक अद्‌भुत अनुभव**

**बलदेवदास रंगा**

कविता प्रकाशन, बीकानेर

मूल्य : 600 रुपये

# राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचार समिति, श्रीडूँगरगढ़

## विधान की धारा 4 के अन्तर्गत मानद सदस्य

श्याम सिंह राजपुरोहित
आई. ए. एस.

प्रो. रूपसिंह
पूर्व कुलपति

जहूर खां मेहर
संस्कृति-विज्ञ

पंकज बिष्ट
संपादक, समयांतर

वेद व्यास
अध्यक्ष, भाईचारा फाउंडेशन

# मरुभूमि शोध संस्थान, श्रीडूँगरगढ़

## प्रबंध मण्डल

प्रो. बी. एल. भादानी
अध्यक्ष एवं पदेन निदेशक

डॉ. सांवरसिंह यादव
उपाध्यक्ष

डॉ. गजादान चारण
उपाध्यक्ष

श्याम महर्षि
सचिव

डॉ. चेतन स्वामी
उप सचिव

## राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचार समिति, श्रीडूँगरगढ़

### नव निर्वाचित कार्यकारिणी समिति– वर्ष 2020–2025

श्याम महर्षि
अध्यक्ष

सुशील कुमार बाहेती
वरिष्ठ उपाध्यक्ष

भीखमचन्द पुगलिया
उपाध्यक्ष

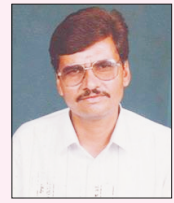

बजरंग शर्मा
उपाध्यक्ष

डॉ. मदन सैनी
उपाध्यक्ष

रवि पुरोहित
मंत्री

सत्यनारायण योगी
संयुक्त मंत्री

विजय महर्षि
संयुक्त मंत्री

रामचन्द्र राठी
कोषाध्यक्ष

महावीर सारस्वत
प्रचार मंत्री

शोभाचन्द आसोपा
सदस्य

मालचन्द तिवाड़ी
सदस्य

सत्यदीप
सदस्य

महावीर प्रसाद माली
सदस्य

भरतसिंह राठौड़
सदस्य

भंवरलाल भोजक
सदस्य

श्रीकृष्ण खण्डेलवाल
सदस्य

श्रीभगवान सैनी
सदस्य

गोपीराम फूलभाटी
सदस्य

महेश जोशी
सदस्य

**सदस्य – राजकीय प्रतिनिधि : प्राचार्य, राजकीय महाविद्यालय, श्रीडूँगरगढ़**

महावीर प्रसाद माली मरुभूमि शोध संस्थान,
श्रीडूँगरगढ़ के लिए मुद्रित एवं प्रकाशित।

मुद्रक : महर्षि प्रिंटर्स, श्रीडूँगरगढ़ (बीकानेर) राज.

जूनी ख्यात बैंक विवरण :
Account Name : Marubhumi Shodh Sansthan
Bank : Punjab National Bank, Sridungargarh
Account No. : 3604000100174114
IFSC : PUNB0360400

**Website : http://rbhpsdungargarh.com**